भारत वर्षोन्नति

डॉ0 मिथिलेश त्रिपाठी

असि. प्रोफेसर हिन्दी विभाग
स्नातकोत्तर म0 वि0 पट्टी, प्रतापगढ

इस विशाल वसुधा–तल पर 'भारत' एक समृध्दि–सम्पन्न, सत्य–सनातन एवं सौम्य, सहृदय राष्ट्र के रूप में अनादि काल से प्रतिष्ठित है। इसकी धरती को देवभूमि, इसके निवासियों को देव मानव, इसकी भाषा को देव वाणी, लिपि को ब्राह्मी–देवनागरी, ब्रह्मज्ञ सन्त–महात्माओं को भूसुर, विश्व–मात्र को बर्बर पशुता के विरूद्ध सभ्य–संस्कारित जीवन दशा का पाठ पढाने वाले मनीषियों को जगद्गुरू की संज्ञा से संज्ञायित किया जाना यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि भारत समस्त प्रकार की भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति–सम्पदा से सम्पन्न राष्ट्र के रूप में सदा से विश्व–विश्रुत रहा है। इस दिव्य देव भूमि को सुदूर अतीत से आज तक प्रकृति का अक्षय वरदान प्राप्त है। इसकी उर्वरा मिट्टी समस्त प्रकार की फसलों, कन्द–मूल–फलों एवं औषधि–वनस्पतियों के प्रभूत उत्पादन के सर्वथा योग्य है। यहाँ की वन्य–सम्पदा, यहाँ की सदानीरा नदियाँ, यहाँ की अपार भू–गर्भ जलराशि, यहाँ की असीम खनिज–सम्पदाएँ, यहाँ कि सामुद्रिक एवं पर्वतीय वैभव–निधियाँ, यहाँ कि जैव–विविधता, ऋतुभिन्नता और इन सबसे बढकर यहाँ की बौद्धिक–विचारणा एवं आत्मिक चेतना के साथ–साथ सद्भाव–सवेंदना जैसे अनन्त प्राकृतिक उपहारों के कारण भारत पहले भी सर्वधनधनी धनेश था, आज भी है और अनन्त अनागत तक रहेगा भी। ऋषि–मुनियों की तपस्या साधना, सन्त–महात्माओं की उपासना, भावुक–भक्तों की आराधना एवं आचार्य–परम्परा की शोध–शिक्षा–जन्य अनन्त उपलब्धियों नें भारत को प्रत्येक प्रकार से इतना समर्थ बना दिया था कि एक समय वह विकास के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होकर सम्पूर्ण संसार का नियमन करता था। किन्तु, काल प्रवाह के साथ परिस्थितियाँ बदलीं। अपनी भारतीय जीवन–शैली से भारतवासी ऊबने लगा। उसके सुविधा भोगी स्वेच्छाचारी मन को घर की कामधेनु अनुपयोगी और परायी गर्दभी उपयोगी लगने लगी। भोगवादी विदेशी जीवन–शैली के आकर्षक मायाजाल में जैसे–जैसे भारतवासी उलझता गया, वैसे–वैसे वह अपने मूल जीवन–स्रोत अर्थात् सांस्कृतिक धारा से कटता गया। जब उसके जीवन का मूल जीवन स्रोत सूख गया तो उसकी शक्ति, साहस–क्षमता जाती रही। इस अवसर का लाभ उठाकर विदेशी आक्रान्ताओं नें उस पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस पराभव से भारत की अपूरणीय क्षति हुई। दीर्घ काल तक भारत माता गुलामी की जंजीरों में जकड़ी रहीं।

अथक परिश्रम और अपार क्षति के पश्चात् सन् 1947 ई0 में राजनीतिक दृष्टि से खण्डित आजादी तो मिल गयी, किन्तु मानसिक आजादी अब तक प्राप्त नहीं हो सकी। बोल, चाल, रहन, सहन, खान, पान, पठन, पाठन, आचार, विचार, कार्यपद्धति आदि सभी कुछ में पाश्चात्य प्रभाव का वर्चस्व विद्यमान हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की स्वाधीन चेतना ने अपना चातुर्दिक विकास आरम्भ किया। भौतिक एवं बौद्धिक समृद्धि के साथ–साथ नैतिक मूल्यों की प्रगति का क्रम चलता रहा। 26 जनवरी 1950 ई0 में भारत का संविधान लागू हुआ। इसका निर्माण विश्व के प्रमुख देशों के संविधान के प्रमुख अशों की दृष्टिगत रखते हुए किया गया। प्राचीन भारतीय आचार–ग्रन्थों को न तो मूल में रखा गया, न आधार बनाया गया और न ही इससे कोई सहायता ली गई। केवल नीति निर्देशक तत्वों में नीतिपरक मान्यताओं की झलक मिलती है। काल प्रवाह के साथ–साथ भारतीय सविधांन में संशोधन होते गये। 18 जून 1951 से लेकर 8 सितम्बर 2016 तक इसमें कुल 101 संसोधन हो चुके हैं। इस उदार संविधान के सहारे देश का शासन–प्रशासन सहज गति से अग्रसर है।

जिस प्रकार 1917 की क्रान्ति के बाद रूस और 1945 के परमाणु–विध्वंसन के बाद जापान ने अपने अभिनव जीवन की विकास यात्रा आरम्भ की, उसी प्रकार सन् 1947 की स्वतंत्रता के बाद से भारत ने भी अपने नवजीवन की शुरूवात की। रूस और जापान आदि देशों को अपने विकास के लिए जहाँ अन्य देशों की कच्ची सामग्री पर आश्रित रहना पड़ता है, वहाँ भारत इस दृष्टि से समृद्धतम राष्ट्र है।

जिस प्रकार 1917 की क्रान्ति के बाद रूस और 1945 के परमाणु–विध्वंसन के बाद जापान ने अपने अभिनव जीवन की विकास यात्रा आरम्भ की, उसी प्रकार सन् 1947 की स्वतंत्रता के बाद से भारत ने भी अपने नवजीवन की शुरूवात की। रूस और जापान आदि देशों को अपने विकास के लिए जहाँ अन्य देशों की कच्ची सामग्री पर आश्रित रहना पड़ता है, वहाँ भारत इस दृष्टि से समृद्धतम राष्ट्र है। कष्ट इस बात का है कि हम अपनी भौतिक सम्पदा का उतना और उस गति से सदुपयोग नहीं कर पाये, जितना अपेक्षित था। परिणामतः हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परमुखापेक्षी होते गये और समर्थ होते हुए भी विकसित राष्ट्र की श्रेणी से अभी तक बाहर पड़े हुए हैं। यदि देश की युवा प्रतिभा को सम्मानित प्रश्रय दिया गया होता तो उसका विदेश पलायन न होता। तब उसका लाभ हमें मिलता और हम विकास के चरम उत्कर्ष की ओर तेजी से अग्रसर होते। तब हम सामरिक दृष्टि से इतने मजबूत होते कि विश्व का कोई भी देश हमें आँख दिखाने का दुस्साहस न कर पाता। तब आतंकवादी आक्रमणों और तज्जन्य नुकसानों से भारत का प्रगति–पथ समय–समय पर वाधित न होता। देश में नेता समाज को जो सम्मान मिल रहा है, वह प्रतिभा पुरूषों को भी मिलना चाहिए था। स्थित यह है कि किसी मंत्री, नेता, अभिनेता, खिलाड़ी आदि के किसी कार्यक्रम को शासन–प्रशासन और मीडिया तक से इतना अधिक महत्व दिया जाता है कि

जन मानस में उनकी छवि एक सर्वसमर्थ अवतार के रूप में अकिंत हो जाती है। इसके विपरीत कोई विद्वान प्रोफेसर, राष्ट्रीय कवि–लेखक, देशभक्त सैन्य अधिकारी, विख्यात वैज्ञानिक कब कहाँ आया और कब चला गया, इसका पता ही नहीं चल पाता। आकाशवाणी, दूरदर्शन और समाचार पत्र वाले थोड़ी सी चर्चा करके जैसे उनके ऊपर एहसान करते हों। पूरे देश में समय–समय पर इतनी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की साहित्यिक, सांस्कृतिक, वाणिज्यिक, वैज्ञानिक आदि संगोष्ठियों का आयोजन होता रहता है कि यदि उनका विस्तृत प्रसारण किया जाय तो पूरे देश में विशेष करके युवा मन में ऐसी सकारात्मक सोच विकसित होगी कि वह अपनी ऊर्जा का प्रयोग रचनात्मक कार्यों में स्वतः करने लगेगा। किन्तु मीडिया के पास अपहरण, हत्या, बलात्कार जैसी सनसनीखेज खबरों के अतिरिक्त इन पर प्रमुखता से प्रकाश डालने का अवकास ही नहीं है। ऐकेडमिक स्टाफ कालेजेज में चल रहे उन्मुखीकरण कार्यम्र एवं पुनश्चार्या पाठ्यक्रम जैसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम भी मीडिया की दृष्टि में अर्थहीन होते हैं। कहना न होगा कि प्रतिभा कि उपेक्षा, अनादर और पलायन से अब तक भारत की अपूरणीय क्षति हो चुकी है। इतना सब होते हुए भी भारत नें इतनी उन्नति कर ली है कि विश्व मंच पर आज उसका एक सम्मानजनक स्थान है। अब भारत एक सुशिक्षित राष्ट्र हो चला है। शिक्षा के कारण आज पूरे देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन परिलक्षित हो रहा है। सुखद आश्चर्य तो यह है कि पुरूषों की तुलना में स्त्रियाँ शिक्षा के प्रति अधिक जागरूक दिखाई दे रही हैं। इससे न केवल देश का सर्वांगीण विकास हुआ है, अपितु पूरी दुनियाँ में भारत का सम्मान भी बढा है। सारा संसार हमें समतामूलक शिक्षित राष्ट्र के रूप में देखने लगा है। महाविद्यालयों–विश्वविद्यालयों तक में जिस तेजी से छात्राओं की संख्या बढ़ रही है, उससे यह लगने लगा है कि निकट भविष्य में ही भारत की मातृ–सत्ता एक बार फिर से लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, काली की भाँति समूचे पृथ्वी मंडल पर असुरता के विरूद्ध दिव्यता का संस्थापन करेगी। यही नहीं, जैसे–जैसे शोध का क्षेत्र विकसित होता जा रहा है तथा शोध की दृष्टि निष्पक्ष होती जा रही है, वैसे–वैसे प्राचीन भारतीय शिक्षा–संस्कृत की शाश्वत उपादेयता दुनियां के समझ में आने लगी है। पाश्चात्य देशों की की वर्तमान भोगवादी जीवन–शैली जैसे–जैसे अप्रासांगिक होती जा रही है, वैसे–वैसे भारत की नियम–निबद्ध जीवन–पद्धति विश्व के विकसित देशों तक में महत्व पाती रही है। वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में भारत प्रत्येक क्षेत्र में दुनिया को कड़ी टक्कर दे रहा है। भारत की उन्नत तकनीक ने दुनिया में तहलका मचा रखा है। चाहे चिकित्सा विज्ञान हो, चाहे सामरिक उपलब्धियां हों, चाहे आर्थिक विकास हो, चाहे आन्तरिक अनुसंन्धान हो, चाहे श्रेष्ठ निर्माण हो, भारत ने सभी क्षेत्रों में अपनें को विश्व मंच पर आज प्रमुखता से स्थापित कर लिया है। भारत का चिकित्सा विज्ञान प्रगति–पथ पर निरन्तर अग्रसर है। कठिन से कठिन तथा असाध्य समझे जानें वाले रोगों का सहज–सरल उपचार आज भारत के लिए सामान्य बात हो गयी है। चिकित्सा–विज्ञानियों नें विश्व के लिए पहेली बने हुए मस्तिष्क की जटिलतम संरचना को काफी हद तक पढ़ लिया है, अंग प्रत्यारोपण की प्राचीन विधि को पुनर्जीवित कर लिया है,

गुण सूत्रों एवं गुणगुटिकाओं में वांछित परिवर्तन करने की विद्या प्राप्त कर ली है। पोलियों, चेचक जैसी घातक महामारियों पर विजय प्राप्त कर ली है, तथा शरीर के समस्त अंग–प्रत्यंगों की सूक्ष्मतम संरचना तक को समझ कर काल से टकराने की क्षमता अर्जित कर ली है। विकसित देशों तक के चिकित्सक भारत की समुन्नत सर्जरी विद्या की सराहना करते हैं, और किसी जटिल समस्या में उलझ जाने पर भारतीय चिकित्सकों से परामर्श लेते हैं। भारतीय वैज्ञानिकों ने अपनी प्रखर प्रज्ञा द्वारा भारत को सामरिक दृष्टि से इतना सक्षम बना दिया है कि अब वह आत्म रक्षा के लिए किसी देश पर आश्रित नहीं रह गया है। सन् 1962 के चीन युद्ध में जहां भारत के पास हथियारों का आकाल था, वहीं आज उन्नत किस्म के हथियारों का समृद्ध भंडार है। आज भारत के पास स्वदेश निर्मित परमाणु बम–वाही मिसाइलें हैं, अभेद तोप टैंक हैं, आत्याधुनिक युद्धक विमान हैं, विमान भेदी अनेक प्रकार के अत्युत्तम अस्त्र हैं। सामरिक दृष्टि से श्रेष्ठ जहाजी–बेड़े और पनडुब्बिया हैं। भूतल, सागर, आकाश, वनांचल, पर्वत आदि किसी भी स्थान पर किसी भी परिस्थित में किसी भी प्रकार के युद्ध लड़ने एवं व्यूह–रचना को ध्वस्त करने में भारतीय सेना का कोई जोड़ नही हैं। विशेष पद्धति की युद्ध–कला से अवगत होने के लिए अमेंरिका जैसा सर्वशक्तिमान देश भारत के साथ संयुक्त युद्धाभ्यास कर रहा है। सामरिक शक्ति की उत्कृष्टता एवं आत्म निर्भरता ने भारत को विकसित देशों के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। भारतीय अर्थव्यवस्था का अनवरत विकास देखकर विश्व के सारे देश चकित हैं। जब दुनियाँ आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रही थी, तब भारत इस प्रभाव से अछूता था। अपनी विकसित अर्थव्यवस्था के कारण आज भारत उस स्थिति में आ गया है कि वह बराबरी का व्यापारिक समझौता कर सके। भारतीय उद्योग जगत दिन प्रतिदिन अपनी स्थिति को सुदृढ़ करता जा रहा है। भारत के गुणवत्तापूर्ण उत्पादों की पूरे विश्व में मांग है। जब से भारत नें अपने भौतिक संसाधनों का स्वतः सदुपयोग करने लगा तब से उसकी पराश्रयिता में आशातीत कमी आई है। भारत के आविष्कार विश्व के श्रेष्ठतम आविष्कारों की आज टक्कर लेनें लगे हैं। अन्य देशों के आविष्कार जहां एक बार प्रयुक्त हो जाने के बाद प्रयोग–बाह्य हो जाते हैं, वहां भारतीय आविष्कार थोड़ी सी मरम्मत के बाद बार–बार प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हैं। भारत की जनसंख्या के अनुसार यहां उपभोक्ताओं की संख्या बहुत अधिक है। विदेशी वस्तुओं को श्रेष्ठ समझने की भारतीय मनोवृत्ति के कारण विश्व के देश भारत को अपना सबसे बड़ा बाजार समझते हैं। इन सब कारणों से भारत आज विश्व–मंच पर एक

भारतीय कूटनीति के परिणाम स्वरूप उसका अकारण शत्रु पाकिस्तान आज विश्व मंच पर अलग–थलग पड़ गया है। इतना सब होते हुए भी आज भारत के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी–बड़ी बहुत सी आन्तरिक बाधाएँ हैं। इन पर विजय प्राप्त किए बिना भारत की विकास–यात्रा निर्विध्न रूप से अग्रसर नहीं हो पाएगी।

सम्मान जनक स्थान बना चुका है। सागर और भू–तल के साथ–साथ आन्तरिक्ष में भी अप्रत्याशित प्रगति के लिए दुनिया ने भारतीय शक्ति–सामर्थ्य का लोहा मान लिया है।

आज विश्व की विश्वसनीय वायु सेवाओं में भारतीय वायु सेवा अधिक सुरक्षित, अधिक सुखद और अधिक भरोसेमंद मानी जा रही है। भारत द्वारा समय–समय पर भेजे गये आन्तरिक्ष–यान भारत और विश्व के बहुउद्देश्यीय कर्यों में सहयोग कर रहे हैं। धरती पर घटित होने वाली पल–पल की गतिविधियों की सचित्र–सूचना प्राप्त करने की क्षमता भारत ने अपने अन्तरिक्ष अभियान के द्वारा अर्जित कर ली है। जो काम पहले गणित ज्योतिष द्वारा किया जाता था, आज वह बहुत कुछ आन्तरिक्ष–यान द्वारा सम्भव हो गया है। धरती के किसी भी कोने में आने वाली प्राकृतिक आपदाओं की पूर्व सूचना आज एक सामान्य बात हो गयी है। इसीलिए किसी भी आकस्मिक आपदा में जान माल की अब उतनी क्षति नहीं होती, जितनी की उसकी सम्भावना होती थी। भारत के अन्तर्ग्रहीय यान आज चन्द्रमां और मंगल की कक्षा तक पहुँच चुके हैं। ग्रहान्तर जीवन की खोज की अति महात्वकांक्षी योजना पर भारत ने कार्य आरम्भ कर दिया है। इससे वर्तमान विश्व मंच पर भारत की साख बढ़ी है। आज आन्तरिक्ष–युद्ध लड़ने की क्षमता वाले देशों में भारत भी सम्मिलित हो सकता है। आन्तरिक्ष के क्षेत्र में आज भारत का विकास इतनी तेजी से हो रहा है कि निकट भविष्य में उसका विश्व–विकास में अग्रणी स्थान होगा। स्वतंत्रता–प्रप्ति के बाद से भारत ने इतनी तेजी से अपना बहुमुखी विकास किया है कि आज उसकी गणना विश्व के गिने–चुने देशों में होने लगी है। इस प्रगति का परिणाम है कि आज भारत के पास वह सब कुछ है, जिसके बल पर वह किसी देश से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। एक समय था जब विश्व के विकसित देश हमें पराश्रित समझ कर कोई भी समझौता रद्द करने में कोई संकोच और भय अनुभव नहीं करते थे। माननीय श्री नरसिंह राव जी के प्रधानमंत्रित्व–काल में अमेरिका के दबाव में रूस नें बड़ी आसानी से क्रायोजोनिक सौदा रद्द कर दिया था। माननीय श्री अटल बिहारी बाजपेयी के कार्य–काल में हुए परमाणु–परीक्षण के विरोध में अमेरिका आदि देशों ने भारत पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उन्होंने भारत को जितना हल्का समझा था उतना वह था वहीं। भारत ने स्वदेशी तकनीक से क्रायोजोनिक इंजन भी तैयार कर लिया और समस्त प्रतिबन्धों को प्रभावहीन बना दिया था। रूस के उस कदम से भारत को बड़ी ठेस लगी थी। वह सतर्क हुआ और अमेरिका से उसकी निकटता बढने लगी। इसी बीच एशिया महाद्वीप में चीन की बढती हुई ताकत ने विश्वसमुदाय को अपनी ओर खींचा। अमेरिका के एकाधिकार एवं निरंकुशता का सामना करने के लिए रूस, चीन एवं भारत को मिलाकर महासंघ बनाने की बात रूस एवं चीन की ओर से उठने लगी। इससे अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। उसने जैसे–जैसे भारत से निकटता बढानी शुरू की वैसे–वैसे पाकिस्तान चीन की ओर झुकता गया। इसी बीच आतंकवाद बहुत बड़ी शक्ति के रूप में सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो गया। कुछ राज्य उसे चोरी–छिपे उसे शिक्षित–प्रशिक्षित कर रहे थे। पाकिस्तान एक ऐसा ही राष्ट्र है। आतंकवाद और आतंकवादी राष्ट्रों पर काबू पाने के

लिए भारत और अमेरिका को एक दूसरे की बेहद आवश्यकता थी। आज दोनों एक दूसरे के बहुत निकट हैं। इस निकटता को चीन की अनियन्त्रित विस्तारवादी नीति पर अंकुश के रूप में देखा जा रहा है। अमेंरिका के प्रत्यक्ष–परोक्ष एवं मुखर–मौन समर्थन न केवल भारत का उत्साह बढा है, बल्कि विश्व–मंच पर उसे विकासित देशों जैसी प्रतिष्ठा भी मिली है। भारतीय कूटनीति के परिणाम स्वरूप उसका अकारण शत्रु पाकिस्तान आज विश्व मंच पर अलग–थलग पड़ गया है। इतना सब होते हुए भी आज भारत के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी–बड़ी बहुत सी आन्तरिक बाधाएँ हैं। इन पर विजय प्राप्त किए बिना भारत की विकास–यात्रा निर्विध्न रूप से अग्रसर नहीं हो पाएगी।

भारतीय दर्शन में शिक्षा की अवधारणा

रंजना मिश्रा

प्रवक्ता
अध्यापक शिक्षा विभाग
ललिता टीचर ट्रेनिंग इस्टीट्यूट
रघुवीर नगर, थलोई, मछलीशहर जौनपुर

भारतीय शिक्षा जगत में दर्शन का अर्थ छात्र में शिक्षा रूपी वस्तु को रखने के लिए पात्र के रूप में तथा शिक्षा को अनुशासन के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय दर्शन में जितनी भी शाखाएं हुई हैं उनमें पराविद्या के द्वारा अमरत्व प्रप्ति का विधान है। भारतीय दर्शन में अपरा विद्या को पराविद्या तक पहुंचाने का सोपान कहा गया है। यह आठ प्रकार की अपरा, विद्या में परमतत्व या जगत के कारण का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और यह ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण प्रकृति परमसत्ता के अंग हैं। इस प्रसंग में गीता का यह मत हैः–

भूमिरापो नलोवायुः खं मनौ बुध्दिरेव च।
अहंकार तृतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टथा।।

वर्तमान की शिक्षा में स्थूल से सूक्ष्म का ज्ञान इसी नियम के अन्तर्गत छात्रों को दिया जाता है। बौद्ध धर्म में भी संसार की अनित्यता का ज्ञान होने के बाद ही निर्वाण प्राप्त करने की स्वीकृति प्राप्ति होती है। अतः इस मत के अनुसार भी स्थूल का ज्ञान प्राप्त कर सूक्ष्म तत्व की ओर गतिशील होकर लक्ष्य प्राप्ति करा देना शिक्षा दर्शन है यथाः–

सव्वपापस्य अकरणं कुशलस्तुय सम्पदा ।
सचित्तपरियोदयनमं एतं बुध्दानशासनं।।

भारतीय दर्शन में शिक्षा के उद्देश्यों को दो भागों में विभक्त किया गया है, 1–ऐहलौकिक अभ्युदय की प्राप्ति 2–पारलौकिक निःश्रेयस की उपलब्धि। लौकिक साधनों को प्राप्त करने हेतु अपरा और पारलौकिक सुख हेतु पराज्ञान का विधान है। अपरा के अन्तर्गत अठारह प्रकार की विधाएं आती हैं। इनकी प्राप्ति हेतु पुरूषार्थ चतुष्ठय का उपदेश किया गया है–

अविद्रयया मृर्त्युतीर्त्वा विद्या मृतमश्नुते।

बौध्द धर्म में भी दोनो प्रकार की विद्या प्राप्त करने का आदेश दिया हैः–

मग्गानं अट्ठंगिकोसेट्टो, सच्चानं चतुराकपदा ।
विरागो सेट्टो धन्याननंदिपदानंच चक्खुमा।।

भारतीय शिक्षा दर्शन में विद्यार्थी को अन्तःवासी कहा जाता था क्योंकि वह गुरू गृह या आश्रम में ही रहता था। यहां रहकर अध्ययन करने के दो कारण थे। प्रथम यह कि उसे पात्र बनाने में गुरू को सुविधा होती थी दूसरा यह कि छात्र गुरू के सद्आचरणों का अनुकरण करता हुआ अनेक प्रकार की शिक्षा से मंडित हो जाता था। गुरू की सेवा से उसे गोप्य वस्तुओं का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता था ।

यथा खन्न खनित्रेणनरोवार्यधिगच्छति।
तथा गुरूगतामं विद्याशुश्रुषुरधिगच्छति।।

गुरू की वाणी को छात्र सुनकर याद कर लेते हैं उसके बाद मनन ध्यान करते थे उपनिषद में यह कहा गया हैः—''श्रोतव्यों मन्तत्यो निदिध्यामितव्य'' प्रशिक्षण का कार्य खुली प्रकृति में होता था। गुरू दो प्रकार की शिक्षण विधियों से छात्रों को ज्ञान प्रदान करते थे। महाभाष्यकार ने इन विधियों का उल्लेख इस तरह किया हैः—

निःशुल्क, सशुल्क एंव वैकल्पिक तीन प्रकार की ग्रह शिक्षा प्रणाली गुरूकुलों के अतिरिक्त गावों के गुरू गृहों में भी प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त राज्य परिवारों, या विशिष्ट परिवारों में अध्यापकों की नियुक्ति कर अध्यापन कराया जाता था। अध्यापन कार्य करने वाले अध्यापकों को तीन भागों में विभाजित किया गया था जो क्रमशः अपनी योग्यताओं के आधार पर आचार्य, उपाध्याय, और गुरू नाम से सम्बोधित होते थे। इसके अतिरिक्त कुलपति भी होते थे परन्तु इनकी संख्या अत्यल्प थी।

यद्धीतमविज्ञातमं निगदेनवशव्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।

वैदिक सहिंताओं में कंठस्थीकरण, पदपाठ, धनपाठ, तथा उच्चारण की विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। आज अमेरिका में वर्णमाला विधि का उपयोग हो रहा है। इस विधि के द्वारा किसी भाषा को शीघ्र सीखने में सहायता मिलती है।

अध्ययन की अनेक विधियों के अतिरिक्त लेखन विधि का विकास भी इस काल में हो चुका था। पुराणों एवं उपनिषदों में लेखर्षम शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। लेखर्षम का अर्थ लेखन में श्रेष्ठ होता है। पुष्पदन्त रचित शिव महिम्वः स्तुति में लेखन विधि का वर्णन इस प्रकार हैः—

असितगिरि समंस्यत् कज्जलं सिन्धु—पात्रे,
सुरतरू वर शाखा लेखनी पत्र मूर्वी।
लिखित यदि गृहत्वाशारदासर्वकालम्,
तदपि तव गुणानामीशपारं नजाति।।

भारतीय दर्शन में शिक्षा का प्रायोगिक रूप भी प्राप्त होता है। स्कन्ध पुराण के अनुसार नारद को गुरू आश्रम का सबसे कनिष्ठ छात्र ने सम्बध्द विद्या का प्रायोगिक ज्ञान दिया था। गीता के नवम अध्याय में भी इस आशय का संकेत प्राप्त होता हैः—

अहंक्रतुरहं यज्ञः स्वधाहम हमौषधम्।

मन्त्रो हम हमेवाज्यम हमग्निरहंहुतम्।।

इस काल में जीवनोपयोगी विषय के रूप में साहित्य संगीत आदि की शिक्षा दी जाती थी जिसको प्राप्त कर छात्र सामाजिक जीवन में पीछे नहीं रहते थे अतः सामाजिक शिक्षा अनिवार्य थीः—

साहित्य संगीत कलाविहीनः ।
साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीनः ।।

अध्ययन अध्यापन में शिक्षार्थी एंव शिक्षक की भूमिका अध्यात्मपरक थी इसीलिए कहा गया किः—

''अध्यापनं ब्रम्ह यज्ञः पितृ यज्ञायत्तुर्पणमं ।''

इस अध्यात्म परक चेतना को अक्षुण रखने के लिए शिक्षक एवं, छात्र अनेक नियमों से बधे थे इस संदर्भ में गीता कहती हैः—

तध्दिध्दि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेस्यन्तिते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

निःशुल्क, सशुल्क एंव वैकल्पिक तीन प्रकार की ग्रह शिक्षा प्रणाली गुरूकुलों के अतिरिक्त गावों के गुरू गृहों में भी प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त राज्य परिवारों, या विशिष्ट परिवारों में अध्यापकों की नियुक्ति कर अध्यापन कराया जाता था। अध्यापन कार्य करने वाले अध्यापकों को तीन भागों में विभाजित किया गया था जो क्रमशः अपनी योग्यताओं के आधार पर आचार्य, उपाध्याय, और गुरू नाम से सम्बोधित होते थे। इसके अतिरिक्त कुलपति भी होते थे परन्तु इनकी संख्या अत्यल्प थी। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रचीन भारतीय शिक्षा दर्शन में वर्तमान एंव भविष्य के साथ अखण्ड आनन्द प्राप्त करने के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में देखा गया था। आज इस बात की आवश्यकता अधिक है कि इस भौतिक युग में जिसमें विज्ञान के आविष्कार ने मनुष्य शब्द की परिभाषा पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है इस परिस्थिति में, प्राचीन भारतीय दर्शन द्वारा निरूपित शिक्षा को स्थापित किया जाय और छात्रों के नैतिक, बौध्दिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान को परिपुष्ट कर विश्वबन्धु की भावना का विकास किया जाय जिसमें सर्वे भवन्तु सुखीनः सर्वेसन्तु निरामया, सर्वेभद्राणि पश्यन्ति मा कश्चित दुःखभागभवेतु हो सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गीता
2. गीता
3. गीता
4. गीता

वर्तमान परिवेश में काव्य प्रयोजनों की प्रासंगिकता

डॉ0 विनय कुमार त्रिपाठी

विभागाध्यक्ष (साहित्य विभाग)
श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय
सुजानगंज, जौनपुर (उ0प्र0)

प्राचीन एवं नवीन परम्पराओं में काव्य के सर्जना का मूल्य उददे्श्य क्या था और आज क्या है? यह बड़ा ही व्यापक प्रश्न है। बिना उद्देश्य के तो मूर्ख व्यक्ति भी कोई कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होता। तो ब्रम्हानन्द सहोदर इस काव्यानन्द का कोई न कोई विशेष प्रयोजन होना नितान्त आवश्यक है।

वस्तुतः काव्य प्रयोजनों का प्रणयन तो नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि द्वारा संकेतित धर्म, यश, आयुष्य, लोकोपदेशजनन तथा विश्रान्तिजनन आदि प्रयोजन को देकर प्रारम्भ कर दिया गया।[1]

आचार्य भामह ने काव्यालंकार में काव्य के प्रयोजन के रूप में पुरूषार्थ–चतुष्टय की सिध्दि, कलाओं में वैचक्षण्य, कीर्ति एवं प्रीति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।[2]

इसी क्रम में यदि हम आचार्य विश्वनाथ के काव्य प्रयोजन को देखे तो कोई गलत नहीं होगा क्योंकि इन सभी का ही अनुशीलन हो सकता है कि आचार्य विश्वनाथ जी अपने काव्य प्रयोजन चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति काव्य के द्वारा मन्द बुध्दि के लोगों को भी हो जाती है में किया हो। वस्तुतः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति वेद इत्यादि से भी सम्भव है किन्तु मनुष्य का स्वभाव है कि वह सरल एवं सुगम, सरस कार्य को करना चाहता है। इसलिए वह काव्य के माध्यम से इन पुरूषार्थों की प्राप्ति अपेक्षित करता है। किन्तु यदि आज के परिवेश में देखा जाय तो काव्य के माध्यम से न तो धर्म मिल रहा है, न अर्थ और काम मिल रहा है। मोक्ष जैसे मुक्तावस्था की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है।

यदि हम वर्तमान परिपेक्ष में धर्म की बात करें तो आज लोग अपनें–अपनें सम्प्रदाय के अनुसार काव्यों का प्रणयन कर अलग–अलग धर्म की प्राप्ति की बातें करते हैं। जिससे आज हमारा समाज साम्प्रदायिक तत्वों से घिर गया है। हम अपने समाज में मानवता नामक दीपक को जलाने में असमर्थ होते दिखाई पड़ रहें हैं। वस्तुतः काव्य मानव जीवन की सार्थकता का सर्वोत्तम सोपान है। अतएव वेदों से लेकर आज के विभिन्न आधुनिक आचार्यों, कवियों एवं सहृदय समीक्षकों ने कवित्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। संसार में मनुष्य का जन्म पाना ही दुर्लभ है। मनुष्य जन्म पाकर भी कवित्व पाना और कवित्व पाकर भी नवनवोंन्मेषशालिनी प्रतिभा पाना दुष्कर है।[3]

अग्निपुराण के इस मन्तव्य से कवित्व की महिमा स्पष्ट हो जाती है। किन्तु आज की मानव जाति धर्म, आदि से बधकर वह धर्मगत होकर एवं जातिगत होकर काव्यों का निर्माण कर समाज को बाटनें का प्रयोजन सिध्द कर रहा है। वस्तुतः कवि चन्द्रमां एवं दीपक के समान होता है जैसे चन्द्रमां स्वयं उस चांदनी का सुख नहीं प्राप्त कर पाता और दीपक भी अपने प्रकाश की आभा दूसरों को ही देता है। उसी प्रकार कवि भी अपने काव्य के माध्यम से व्यवहार का ज्ञान पाठकों को ही देता है न कि स्वयं। इस प्रकार की काव्य रचना विभिन्न कुरीतियों में फंसकर समाज को पथ भ्रष्ट कर रही है।

यदि हम वर्तमान परिपेक्ष में धर्म की बात करें तो आज लोग अपनें–अपनें सम्प्रदाय के अनुसार काव्यों का प्रणयन कर अलग–अलग धर्म की प्राप्ति की बातें करते हैं। जिससे आज हमारा समाज साम्प्रदायिक तत्वों से घिर गया है। हम अपने समाज में मानवता नामक दीपक को जलाने में असमर्थ होते दिखाई पड़ रहें हैं। वस्तुतः काव्य मानव जीवन की सार्थकता का सर्वोत्तम सोपान है।

पुनः बात हम अर्थ और काम की करे तो आज काव्य के माध्यम से अर्थ और कामनाओं की पूर्ति ये दोनों सम्भव नहीं है। क्योंकि आज न तो शाहजहां जैसे राजा हैं और न पण्डितराज जगनाथ जैसे कवि। यदि हम मोक्ष जैसे प्रयोजन की बात करें तो वह भी चिन्तनीय है क्योंकि प्रो0 राधाबल्लभ त्रिपाठी जी ने अभिनव काव्यालंकार सूत्रम् में मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम् कहते हुए मुक्ति अथवा मोक्ष को ही काव्य रचना का प्रयोजन बताया। परन्तु उनका यह मन्तव्य लोक एवं शास्त्र दोनों के विरूध्द प्रतीत होती है। यह अनुभव सिध्द भी नहीं है। आचार्य भरत ने तो त्रिवर्ग सधनम् नाट्यम् कहकर काव्य से प्रत्यक्षतः तो तीन ही की सिध्दी होती हैं मोक्ष की नहीं।

आज के युग में इन पारम्परिक काव्य प्रयोजनों की समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। क्योंकि अब वे सामाजिक परिस्थितियॉ तथा मूल्य नहीं रहे। शासन प्रणाली भी बदल गयी। राजतंत्र का स्थान लोकतंत्र ने ले लिया है। भारतीय धर्मशास्त्र ने राजा को दैवी आस्था से श्री मण्डित धोषित किया था, परन्तु आज के शासकों (सांसदों मंत्रियों) को कोई भी धर्मशास्त्र दैवी कला से युक्त नहीं मानेगा। आज के सांसदों मंत्रियों में इस काव्यगत रोचकता में किसी भी प्रकार की कोई रूचि भी दृष्टिगोचर नहीं होती है।

आचार्य वामन ने काव्य प्रयोजन के रूप में मात्र प्रीति एवं कीर्ति को स्वीकार किया है।[4] कीर्ति परमाह्लाद, तथा गुरू, राजा एवं देवता का अनुग्रह आदि अनेक प्रयोजन वाला होता है काव्य। ऐसा प्रतिपादित करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ की कीर्ति, परमानन्द एवं त्रिविध अनुकम्पा को काव्य प्रयोजन मानते हैं।[5]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी सह्रदयों के ह्रदयों का आह्लादन करने वाले शब्दों एवं अर्थों से समनुगत होना ही काव्यत्व है। और ह्रदयाहलादन ही काव्य का प्रयोजन है। आचार्य वाणभट् ने कहा कि हम तो एक मात्र कीर्ति को ही काव्य प्रयोजनतया स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी काव्य से यश प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, लोक व्यवहार का ज्ञान,

शिवेतर अर्थात् अमंगल की क्षति नाश सधः परनिवृति तत्काल ही आनन्द की प्राप्ति तथा कान्ता सम्मित उपदेश।[6] रीतिकालीन हिन्दी कवि देव के अनुसार यश ही काव्य का प्रयोजन है। इसी प्रकार राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने केवल मनोरंजन कवि का कर्म होना चाहिए। उसे उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए। इन काव्य प्रयोजनों के माध्यम से हम पूर्व कालिक उद्देश्यों की पूर्ति मान सकते हैं। लेकिन आधुनिक परिवेश में यह कहीं न कहीं संकुचित होता हुआ दिखाई पड़ रहा है। नवयुगीन काव्यशास्त्रीय आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी तो काव्य का कोई प्रयोजन भी नहीं मानते उनकी दृष्टि में काव्य कवि का सहज कर्म है। वस्तुतः परमार्थतः तो काव्य का कोई प्रयोजन नहीं होता स्वभावज कविकर्म होने के कारण काव्य का निर्माण होता है। रामचरितमानसकार कवि तुलसीदास जी नें भी अपनें ग्रन्थ में कहा कि हम इस राम के चरित्र की गाथा स्वान्तःसुखाय हेतु कर रहे हैं।[7] इसी प्रकार यदि हम आचार्य राजेन्द्र मिश्र के काव्य प्रयोजन को स्पष्ट करें तो उनका भी अभिमत है। कि यह कवि न धन के लिए, न ही पुण्य लाभ के लिए और न ही व्यवहारिक ज्ञान के लिए और न ही तात्कालिक आनन्द प्राप्ति के लिए काव्य का प्रणयन करता है। वस्तुतः यह काव्य रचना उसका पूर्वजन्म में संस्कारों से प्रबुद्ध स्वभावज कर्म है। जिसे न सम्पन्न कर वह क्षण भर भी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। इस परिपेक्ष में उदाहरण देते हुए कहा कि जैसे बिना गुन्जन प्रकट किए भ्रमर उड़ पाने में समर्थ नहीं होता। वह गुनगुनाते हुए ही उड़ता है। उसी प्रकार वह कवि भी कवि कर्म के बिना जी नहीं सकता। इसलिए मैं इस काव्य को निसर्गजात कविकर्म मानता हूं। जो कि जन्म जन्मान्तर से प्राप्त होने वाले दिव्य संस्कारों का श्रेष्ठ फल है।[8]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1–धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुध्दिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। नाट्य–1.113–15
2–धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिश्च साधु काव्य निवेषणम्–काव्यालंकार
3–नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा । अग्निपुराण–337–3
4–काव्यं सद्दृष्टार्थ प्रीति कीर्ति हेतुत्वात्–काव्या
5–तत्र कीर्ति परमाह्लादगुरू राजदेवताप्रसादाधनेक प्रयोजनकस्य काव्यास्य –रसगंगाधर
6–काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतवे।
सघः परनिवृर्तयें कान्तासम्मिततयो पदेशयुजे। काव्य प्रकाश –1.2
7–स्वन्तः सुखाय रधुनाथ गाथा
8–संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्य शास्त्र–पृष्ठ– 190

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रकृति और मानव का साहचर्य

अर्पिता त्रिपाठी

शोधच्छात्रा,
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। महाकवि ने अपनी लेखनी के द्वारा महाकाव्य, नाटक एवं गीतिकाव्य का लेखन करके संस्कृत साहित्य के कोष में अक्षय वृद्धि की है। कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है जिसकी प्रशंसा न केवल भारतीय मनीषियों ने की है अपितु विदेशी मनस्वियों ने भी इस नाटक को शिरोधार्य करते हुए इसकी प्रशंसा की है। जर्मन कवि गेटे ने इस नाटक की प्रशंसा करते हुए लिखा कि–

"Would'st thou the young year's blossoms and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed enraptured feasted, fed?
Would'st thou the earth and heaven itself in one sole name combine,
I name the, O Shankuntala, and all at once is said."[1]

भारतीय मनीषियों ने भी **''काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्र रम्या शकुन्तला।''**[2] जैसी प्रशस्तिपरक पंक्तियों को लिखकर नाटक की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। महाकवि का यह नाटक घटनाओं की विचित्रता में, प्रकृति और मानव के तादात्म्य सम्बन्ध में, कल्पना की कोमलता में, मानव चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में अत्यन्त श्रेष्ठ है। महाकवि ने मानव और प्रकृति के प्रति उसके प्रेम का जितना सुन्दर वर्णन किया है वैसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। यदि महाकवि को प्रकृति का कवि कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। नाटक के परिशीलन के पश्चात् सहज ही यह भाव मन में प्रस्फुटित हो जाते हैं कि महाकवि मानो शकुन्तला के रूप सौन्दर्य को लक्ष्य बनाकर प्रकृति की सुन्दर छटा का वर्णन करना चाह रहे हैं। शृंगार रस प्रधान नाटक के नान्दी पाठ में अष्टमूर्ति शिव की स्तुति के द्वारा महाकवि ने प्रकृति के प्रति अपना अपार स्नेह व्यक्त किया है–

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।''[3]

जो परमात्मा की सर्वप्रथम सृष्टि है ऐसी जलरूप मूर्ति, अग्निरूप मूर्ति, यजमानरूप मूर्ति, सूर्य और चन्द्रमारूप मूर्ति, आकाशरूप मूर्ति, पृथिवीरूप मूर्ति, वायुरूप मूर्ति से युक्त भगवान शिव हमारी रक्षा करें। इस प्रकार महाकवि ने शरीर के प्रकृतिमय रूपों की वन्दना की है। वे प्रकृति को मनुष्य जीवन से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं मानते उनके विचार से दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, प्रकृति और पुरुष के इसी सम्बन्ध को साङ्ख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने पङ्गवन्धवत् न्याय का आश्रय लेकर स्पष्ट किया है–

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्गवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।[4]

शिकार के व्यसनी राजा दुष्यन्त मृग का पीछा करते हुए कण्व ऋषि के आश्रम के सीमा प्रान्त में प्रवेश करते हैं उसी समय वैखानस का कथन मृगों की जीवनरक्षा के लिए सहज ही स्फुट हो जाता है–

''वैखानस : (हस्तमुद्यम्य) राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।
न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्,
मृदूनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते।।''[5]

'न हन्तव्यो न हन्तव्यः' इन पदों के प्रयोग के द्वारा वैखानस राजा से धनुष पर चढाये हुये बाण को उतारने का निवेदन करता है। कहाँ तुच्छ हरिणों का अतिचंचल जीवन और कहाँ तीक्ष्ण प्रहार करने वाले बाण। महाकवि ने इस प्रसंग को उद्धृत करके पाठकों के मन में पशु प्रेम की भावना को जाग्रत करने का प्रयास किया है। इस पारिस्थितिकी तन्त्र में जितना महत्त्वपूर्ण स्थान मनुष्यों का है उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान पशुओं का भी है। मनुष्य पशु–पक्षी एवं वृक्ष मिलकर आज भी पारिस्थितिकी तन्त्र के सन्तुलन को बनाये हुए हैं।

महाकवि ने अपने नाटक में भौतिकतावादी स्थानों के वर्णन को न वर्णित कर आश्रम, नदी, पर्वत, कन्दरा, वृक्ष, पशु–पक्षी आदि की झाँकी अपने नाटक में स्थान–स्थान पर प्रस्तुत की है। कहीं आश्रम के मनोहर दृश्य मानव मन को आकर्षित कर रहे हैं, कहीं नदियों की कल–कल ध्वनि श्रवणेन्द्रिय को तृप्त कर रही है, कहीं सुन्दर कन्दराओं में मुनि तप में लीन हैं, कहीं पशु–पक्षी

समय परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील समय में व्यक्ति को अनेक प्रकार की परिस्थितियों एवं समस्याओं से गुजरना पड़ता है। जब जीवन में घटित होने वाली घटनायें मानव मन को आह्लादित करती हैं तो मानव सुखी होने का अनुभव करता है किन्तु जब कुछ घटनायें मानव पर गहरा विषादात्मक आघात करती हैं तो वह दुःखी होता है। व्यक्ति को उन परिस्थितियों से घबराना नहीं चाहिए। सूर्य का उदय होना और चन्द्रमा का अस्त होना एक शाश्वत क्रम है।

कलरव कर रहे हैं–

''नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिद्इंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः.....।।''[6]
''कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन.....।।''[7]

शकुन्तों नामक पक्षी के द्वारा पाली गयी कोमलांगी शकुन्तला भी प्रकृति के प्रति अपना अपार स्नेह व्यक्त करती है। वह स्वयं वृक्षों को सींचती है, शकुन्तला वृक्षों से सगे भाई के तुल्य और लताओं से अपनी बहन के तुल्य प्रेम करती है तथा उसी प्रकार मनोयोग से उनकी सेवा में भी तत्पर रहती है–

''शकुन्तला न केवलं ततनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।''
(इति वृक्षसेचनं रूपयति।)[8]

शाकुन्तलम् का यह वृत्तान्त मनुष्यों को मानव मन की अहं भावना का परित्याग करने के लिए प्रेरित करता है। मै और मेरा की भावना ने प्रकृति का पर्याप्त दोहन किया है। आज स्वयं के लाभ के लिए वृक्ष काटे जा रहे हैं जिससे वातावरण में नाना प्रकार के प्रदूषण, रोग एवं विसंगतियाँ व्याप्त हो रही हैं। 1973 ई0 में हुआ चिपको आन्दोलन वर्तमान शताब्दी में वृक्षों के प्रति प्रेम के एक नये दृष्टिकोण को समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।

समय परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील समय में व्यक्ति को अनेक प्रकार की परिस्थितियों एवं समस्याओं से गुजरना पड़ता है। जब जीवन में घटित होने वाली घटनायें मानव मन को आह्लादित करती हैं तो मानव सुखी होने का अनुभव करता है किन्तु जब कुछ घटनायें मानव पर गहरा विषादात्मक आघात करती हैं तो वह दुःखी होता है। व्यक्ति को उन परिस्थितियों से घबराना नहीं चाहिए। सूर्य का उदय होना और चन्द्रमा का अस्त होना एक शाश्वत क्रम है। महाकवि ने सूर्योदय को सुख एवं चन्द्रमा के अस्त होने को दुःख के रूप में वर्णित किया है जो मानव को सुख–दुःख की परिवर्तनशीलता की शिक्षा देते हैं।

''यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना–
माविष्कृतोऽरुणपुरः सर एकतोऽर्क।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।''[9]

इस प्रकार केवल मनुष्य ही सुख और दुःख का अनुभव नहीं करता है बल्कि महाकवि की दृष्टि में प्रकृति भी नित्यप्रति सुख–दुःख के चक्र का अनुभव करती है। सुख और दुःख एक गाड़ी के दो पहिये हैं यदि सुख है तो दुःख अवश्य होगा। अतः व्यक्ति को सुख–दुःख दोनों में समान रूप से जीवन जीने की कला का ज्ञान होना चाहिए। इन्हीं तथ्यों का उपदेश गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया है–

''सुखदुःख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।''[10]

महाकवि कालिदास द्वारा अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का सुन्दर समन्वय किया गया है। जो घटनायें मानव मन में घटित हो रही हैं वैसी ही घटनाओं की अनुभूति बाह्य प्रकृति में भी हो रही है। शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में एक ओर जहाँ पति के वियोग में शकुन्तला की अवस्था दयनीय है तो वहीं दूसरी ओर चन्द्रमा के वियोग में कुमुदिनी की दशा भी शोचनीय है–

"अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।।"[11]

शकुन्तला की बिदायी के अवसर पर आश्रम के सभी व्यक्ति खिन्न हैं। वृक्ष और वनदेवता भी उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। वे रेशमी वस्त्र, अलक्तक तथा आभूषण देकर शकुन्तला के प्रति अपना घनिष्ठ प्रेम प्रदर्शित करते हैं। प्रकृति के साथ इस प्रकार का भावात्मक सम्बन्ध एवं आदान प्रदान विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है–

"क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा मांगल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारस केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैः
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।"[12]

उपरोक्त प्रसंग पर दृष्टिपात् करने के पश्चात् मानव मन में पन्त जी की पंक्तियाँ **"यह धरती कितना देती है"**[13] अनायास ही रेखांकित हो जाती हैं। जहाँ एक ओर वृक्षों ने शकुन्तला के लिए उपहारस्वरूप आभूषण प्रदान कर अपने प्रेम का प्रदर्शन किया है तो वहीं कण्व भी शकुन्तला के वृक्षों के प्रति प्रेम का वर्णन करते हैं कि शकुन्तला बिना वृक्षों को जल पिलाये जल नहीं पीती थी, अलंकारों के प्रिय होने पर भी उनके नये पत्ते नहीं तोड़ती थी, आज वह शकुन्तला पतिगृहगमन कर रही है, अतः आप सब भी अपनी स्वीकृति दें–

"पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।"[14]

कालिदास के नाटक में वृक्ष, पशु–पक्षी भी एक जीवित प्राणी के तुल्य व्यवहार करते हुए दिखलाये गये हैं। शकुन्तला की बिदायी के अवसर पर कोयल अपने मधुर स्वर का आश्रय लेकर उसको पतिगृहगमन की अनुमति देती है–

"अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्।।"[15]

शकुन्तला के वियोग से उत्पन्न दुःख को न सह सकने के कारण मृगियों ने कुश के ग्रास उगल दिये हैं, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लतायें अपने पीले पत्तों को डालकर अपने आँसू बहा रही हैं–

"उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।"[16]

महाकवि ने प्रकृति का दृष्टान्त देकर परोपकारियों के स्वभाव को वर्णित किया है। जिस प्रकार वृक्ष फल आने पर नम्र हो जाते हैं, बादल नये जल से परिपूर्ण होने पर बहुत नीचे लटक आते हैं, सज्जन पुरुष समृद्धि पाकर सुशील हो जाते हैं, उसी प्रकार परोपकारियों का स्वभाव भी है–

"भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै–
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।"[17]

महाकवि ने शकुन्तला के वियोग में दुष्यन्त और प्रकृति की साम्यावस्था का वर्णन किया है, जहाँ एक ओर दुष्यन्त शोकाकुल हैं तो वहीं दूसरी ओर बसन्त ऋतु आने पर भी आमों में बौर नहीं है, कोयलों का बोलना बन्द है, कुरबक आदि पुष्प नहीं खिल रहे हैं–

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत् कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शड्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्।।[18]

इस प्रकार कालिदास प्रकृति के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं। वे प्रकृति को सजीव और मानवीय भावनाओं से ओत–प्रोत मानते हैं। मनुष्य के तुल्य वह भी सुख–दुःख का अनुभव करती है और मनुष्य के सुख–दुःख में सहानुभूति प्रकट करती है। अतः मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है।

विस्तार में जाकर दृष्टिपात् करें तो न केवल अभिज्ञानशाकुन्तलम् वरन् कालिदास के सम्पूर्ण काव्य में प्रकृति प्रेम, उसके रमणीय स्वरूप का वर्णन, उसके सहकारी रूप का चित्रण और मनुष्य के साथ उसके गहन साहचर्य का सघन और सरस वर्णन प्राप्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रकृति और मानव का इतना सहज सघन साहचर्य दृष्टिगोचर होता है कि अनेक स्थान पर दोनों के बीच अभेद की स्थिति दिखायी देती है। हम जिसे जड़ कहते हैं और जो चेतन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, उनके बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के स्पष्ट दर्शन होते हैं। साहित्य की भाषा में इसे भले ही प्रकृति का मानवीकरण कहकर एक काव्य तत्त्व या गुण के रूप में स्वीकार किया जाये, किन्तु आमजन के मानस पटल पर इसका कुछ अलग ही प्रतिबिम्ब अंकित होता है। वृक्षों, लताओं, पक्षियों द्वारा परित्यक्त कन्या शकुन्तला का पालन–पोषण मनोविनोद, श्रृंगार और पारस्परिक सुख–दुख में क्रमशः उल्लास

और करुणा की अनुभूति कालिदास के रसिक पाठकों के मनःपटल पर उनकी काव्यकला के जो हृदयग्राही बिम्ब अंकित करती है, उसे विस्मृत किया जाना अत्यन्त कठिन है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मानव और प्रकृति का साहचर्य जनित प्रेम मानव मन की उस उदात्त स्थिति को प्रदर्शित करता है जहाँ इस सम्पूर्ण सृष्टि को वह अपने कुटुम्ब के रूप में परिकल्पित करता है। हमारे साहित्य में इसी भाव को **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** कहकर भी प्रकट किया गया है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि संस्कृत के विपुल लालित्यपूर्ण साहित्य मण्डल के बीच कालिदास का काव्य इसलिए भी शीर्षस्थ है कि इनके यहाँ मनुष्य और उसकी सहचरी प्रकृति के बीच ऐसे स्नेहासिक्त सम्बन्ध का वर्णन मिलता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। सम्भवतः इसी कारण अभिज्ञानशाकुन्तलम् न केवल संस्कृत नाटक के पाठकों का, बल्कि सम्पूर्ण विश्व साहित्य के सहृदय पाठकवृन्द का कण्ठहार बना हुआ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जर्मन कवि गेटे
2. अज्ञात
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 1/1
4. साङ्ख्यकारिका– 21
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 1/10
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 1/14
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 1/15
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– प्रथम अंक, पृष्ठ 42
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 4/2
10. श्रीमद्भगवतगीता– 2/38
11. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 4/3
12. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 4/5
13. सुमित्रा नन्दन पन्त की कविता, शीर्षक– आः धरती कितना देती है।
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 4/9
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 4/10
16. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 4/12
17. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 5/12
18. अभिज्ञानशाकुन्तलम– 6/4

कबीर के काव्य की सामाजिक उपादेयता

अमित कुमार तिवारी

शोध छात्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

कबीर जिस मध्यकाल में हुए थे, उसमें बहुत से आंतरिक विखंडनों के बावजूद मुख्य रूप से दो ही जातियाँ थीं, जिनके बीच ऐतिहासिक और तात्कालिक कारणों से भयानक वैमनस्य और अपने पर अड़े रहने की ज़िद थी। विद्वेष को समाप्त करने के दो ही उपाय कबीर को दिख रहे थे–एक तो दोनों के बाह्याचारों की व्यर्थता बताना और दूसरा भीतर के अद्वैत का साक्षात्कार करना। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के बाह्याचारों का खंडन करते हुए कहते हैं–

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या तेरा साहिब बहिरा है।
चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साबह सुनता है।।
पंडित होय के आसन मारे, लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लगता है।।

कबीर सभी मनुष्यों के बीच मैत्री स्थापित करना चाहते थे। वे यह चाहते थे कि समाज में सभी मनुष्य मिल–जुल कर शांति और सद्भाव से रहें। डॉ0 बच्चन सिंह कबीर के बारे में लिखते हैं– उन्हें कोई भी मत स्वीकार नहीं जो मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करता है। उन्हें कोई भी अनुष्ठान या साधना मंजूर नहीं है, जो बुद्धि–विरूद्ध है। उन्हें कोई भी शास्त्र मान्य नहीं है जो आत्मज्ञान को कुंठित करता है। वेद–कितेब भ्रमोत्पादक है, अतः अस्वीकार्य है। तीर्थ, व्रत, नमाज, रोजा गुमराह करते हैं, इसलिए अग्राह्य हैं। पंडित–पांडे, काजी–मुल्ला उन धर्मों के ठेकेदार हैं जो धर्म नहीं है। अतः धृणास्पद है।'' कबीर मनुष्य को सिर्फ मनुष्य के रूप में देखना चाहते थे, हिन्दू–मुसलमान, पंडित–मुल्ला के रूप में नहीं। उन्होंने हिन्दू–मुसलमान के बीच एकता लाने का प्रयास किया।

सिर्फ सामाजिक ऊँच–नीच पर ही कबीर ने आक्रमण नहीं किया बल्कि ईश्वर भक्ति के प्रपंचो को भी चुनौती देने का साहस दिखाया। उनसे पहले शायद ही किसी संत ने ईश्वर भक्ति पर इतने आक्रामक तरीके से कुछ कहा हो–

यह सब झूठी बंदगी विरथा पंच नवाज।

सांचै मारि झूठि पढ़ि काजी करै अकाज।।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में कबीर के व्यक्तित्व का बिल्कुल सही विश्लेषण करते हुए लिखा है– ''कबीरदास ऐसे ही मिलन–बिन्दू पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वह खड़े थे। वह दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर–विरूद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के गुण–दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।

कबीर खड़ा बाजार में माँगे सबकी खैर
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।।

कबीर तो बीच बाजार खड़े होकर सबकी खैर मॉगते हैं मगर क्या आज हम बीच बाजार खड़े होकर सबकी खैर माँगते हैं या माँग सकते हैं? जाहिर है उत्तर नकारात्मक ही होगा। कबीर का समय हमारे आज के समय से ज्यादा उथल–पुथल भरा था। पंद्रहवी शताब्दी में भारत में इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच संघर्ष चल रहा था। उस समय के मुकाबले आज हम अधिक शांत और सद्भावपूर्ण माहौल में रह रहे है मगर फिर भी आज अपने और अपनों के अलावा कोई किसी की खैर न तो माँगना चाहता है और न ही मांगता है। आज से छह सौ साल पहले कबीर लोगों को जागत रहियो भाई' कह रहे थे मगर न तो तब लोगों ने उनकी बात मानी और न ही आज मान रहे हैं।

कबीर सभी मनुष्यों के बीच मैत्री स्थापित करना चाहते थे। वे यह चाहते थे कि समाज में सभी मनुष्य मिल–जुल कर शांति और सद्भाव से रहें। डॉ0 बच्चन सिंह कबीर के बारे में लिखते हैं– उन्हें कोई भी मत स्वीकार नहीं जो मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करता है। उन्हें कोई भी अनुष्ठान या साधना मंजूर नहीं है, जो बुद्धि–विरूद्ध है। उन्हें कोई भी शास्त्र मान्य नहीं है जो आत्मज्ञान को कुंठित करता है।

एक–दूसरे को मार रहे हैं। धर्म का मर्म न तो लोगों ने तब समझा था और न आज ही समझ रहे हैं। कबीर ने जिस जाति–पाति का विरोध आज से छ सौ साल पहले किया था, वह आज और भी कठोर रूप में हमारे सामने आ रहा है। अपने बागी धर्म के निर्वाह के लिए कबीर इनकार की पराकाष्ठा तक पहुँच गए थे। उन्होंने खुद को किसी भी धर्म में शामिल न करते हुए घोषणा की– 'ना मैं हिन्दू ना मुसलमाना'। कबीर ने साधना के सभी क्षेत्रों में बाह्याचार का विरोध किया। वे सारे कर्म–विधान जिसके मूल में कोई तत्व नहीं है, कबीर के लिए व्यर्थ हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि शरीर का योग तो सब साधते है।, मन का योग तो कोई बिरला ही साधता है–

तन को जोगी सब करे, मन का बिरला कोई।
सब विधि सहजै पाइये, जे मन जोगी होई।।

कबीर एकेश्वरवाद के समर्थक थे। उनका यह विचार था कि एक ही परमतत्व को राम और रहीम कह देने से दो नहीं हो जाएगा। माला और तसवीह पर जप करने से वह चीज दो नहीं हो जाएगा–

अरे भाई दोइ कहाँ से मोही बतावो।
बिचिहि उपाइ रेची द्वै धरनी, दीन एक बीच भई करनी।
राम–रहीम जपत सुधि गई, उनी माला तसबी लई।
कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोल निहारा तुरूक न हिन्दू।।

तैतीस करोड़ देवी–देवताओं के अवतार वाले इस देश में उन्होंने सारे अवतारवाद और देवी–देवताओं का निषेध करते हुए ईश्वर–अल्लाह–ब्रह्म, राम–रहीम को एक माना। यह एकेश्वरवाद ही उन्हें मंदिर–मस्जिद, काबा–काशी, तीर्थ–व्रत–रोजा–उपवास–नमाज–बंदगी सबसे अलग घट–घट में, पिंड–पिंड में और दुनिया जहान में देखने और पाने का विश्वास देता है। इसी के चलते कबीर धर्म के मर्म को समझ पाए जो सेवा, पर–उपकार, पर–दुखकातरता, सदाचरण, सच्चाई, निर्मल अंतःकरण, ईमानदारी के साथ जीने के अलावा और कुछ नहीं है। धर्म के इस मर्म का जानकार ही कबीर अपने समय के सबसे 'सेक्यूलर' व्यक्ति उभर कर सामने आते हैं। उनका विचार है कि एक ही ज्योति सबमें व्याप्त है, दूसरा कोई तत्व नहीं–

कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे अपना, चले हमारे साथ।।
कबीर में जो फक्कड़ता, अक्खड़ता और मस्ती थी वह उन्हें अपना घर जला देने के बाद ही मिली थी। मगर आज लोगों में घर जोड़ने की माया इतनी प्रबल हो गयी है कि उन्हें अपने स्वार्थ के अलावा और कुछ सूझ ही नहीं रहा।

एकहिं ज्योति सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई।
कहै कबीर सुनौ रे संतो भटकि मरै जनि कोई।।

कबीर ने अपने समय की परिस्थियों को गहराई से परखा था और यह पाया कि सभी धर्म ईश्वर के विविध नामों में ही उलझे हुए हैं। उनका यह विचार था कि हमें अलग–अलग नामों के फेर में न पड़कर उस अद्वितीय परमतत्व को स्वीकार करना चाहिए जो सबके मूल में स्थित सत्य स्वरूप है। राम–रहीम–करीम, अल्लाह, खुदा व गोरख जैसे नामों के आधार पर व्यक्ति विशेष के रूप में समझ मूलतः वही एक सत्य है जो सर्वत्र व्याप्त है, जिसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है–

जोगी गोरख–गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चारै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर का स्वामी घटि–घटि रह्यो समाई।।

कबीर का यह मत था कि उस परम तत्व की भक्ति में सबसे बड़ा रोड़ा धार्मिक बाह्चार ही है। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में धर्म के नाम पर प्रचलित धार्मिक आडंबरों का कड़े से कड़े शब्दों में खंडन किया। उन्होंने हिन्दूओं के वेदपाठ, तीर्थस्थान, व्रतोद्यापन,

छूआ–छूत, अवतारवाद, कर्मकांड आदि सबका विरोध किया। वर्णाश्रम व्यवस्था के नाम पर उस समय हिन्दू समाज में प्रचलित छूआ–छूत और जातियों की अस्पृश्यता को कबीर ने कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हमेशा यही कहा कि हम सब उस एक परमतत्व से उत्पन्न हुए हैं और उसने हममें कोई भेदभाव नहीं किया है। ब्राह्मण और शूद्र का भेद तो कबीर मानते ही नहीं थे। वे प्रश्न करते हैं–

हमारे कैसे लोहु तुम्हारे कैसे दूध
तुम्ह कैसे ब्राह्मण हम कैसे सूद।

ईश्वर के वास्तविक रहस्य को न समझकर ही लोग नाम के फेर में पड़े रहते हैं और मूल तत्व को जान ही नहीं पाते। एकेश्वरवाद की बात करते हुए भी कबीर ऐसे धर्म को स्वीकार नहीं करते जो दुनिया के सारे कर्म को त्यागकर निवृत्ति की ओर ले जाए। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

हाँथ–पाँव कर काम सक चित्त निरंजन नालि।

कबीर किसी धर्मोपदेशक की तरह सिर्फ ज्ञान ही नहीं बांचते थे बल्कि कर्मरत रहते हुए ईश्वर की भक्ति करते थे। कबीर स्वयं जुलाहे का काम करते थे। व्यवसाय के माध्यम से कबीर ने छोटे–बड़े का भेद दूर करने का प्रयत्न किया। संभवत यह पहली बार था कि एक भक्त और महात्मा ने अपने साधारण धंधे का त्याग किए बिना गौरव प्राप्त किया। इस तथ्य से कबीर की इस निष्ठा का बोध होता है कि मानव–मानव के बीच भेद पैदा करने में केवल वर्ण, जाति और धर्म की बाधक नहीं है बल्कि व्यवसाय के आधार पर भी समाज में ऊँच–नीच का भेद किया जाता है। कबीर ने इस भेद को भी चुनौती दी और अपना काम करते हुए ईश्वर की भक्ति की। कबीर बड़े गर्व से कहते हैं–

जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि–हरषि गुण रमै कबीर।
मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।
तू बामन मैं कासी का जुलाहा।।

कबीर सिर्फ बातों के शेर नहीं थे। उन्होंने जनता को केवल उपदेश नहीं दिए बल्कि अपनी कही एक–एक बात को खुद अपने जीवन में आचरित भी किया। रूढ़ियों और रीतियों पर प्रहार करना तो सरल है, मगर स्वयं उन बातों पर चलना सरल नहीं। कबीर इसलिए एक मिसाल हैं कि उन्होंने पहले अपना घर फूँका, फिर दूसरों से अपना घर फूँककर अपने साथ चलने को कहा–

कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे अपना, चले हमारे साथ।।

कबीर में जो फक्कड़ता, अक्खड़ता और मस्ती थी वह उन्हें अपना घर जला देने के बाद ही मिली थी। मगर आज लोगों में घर जोड़ने की माया इतनी प्रबल हो गयी है कि उन्हें अपने स्वार्थ के अलावा और कुछ सूझ ही नहीं रहा। कबीर के समाज–दर्शन पर विचार करते हुए रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं– ''कबीर का यदि कोई समाज–दर्शन है तो वह मनुष्य

के बाह्य जीवन को नैतिक आचरण की मर्यादा में बांधने वाला, मानव–धर्म की ऊँचाई पर पहुँचने वाला है। कबीर का लक्ष्य व्यक्ति ही है। उन्होंने व्यक्ति को ही आध्यात्म चेतना से मंडित करना चाहा था।'' वास्तव में कबीर का आध्यात्म मनुष्य को सभी बाह्य आंडबरों से हटा कर एक ईश्वर पर केन्द्रित करता है।

कबीर अकेले की मुक्ति नहीं चाहते हैं, वे तो सारे जगत की मुक्ति चाहते हैं। तभी तो वे सबकी कहते हैं– 'मैं तो सबहीं की कहौ।' इसलिए कबीर का धर्म अनायास ही समाज–सुधार और मनुष्यता का प्रतिमान बन जाता है। कबीर ने जाति–पाति, छुआ–छूत, ऊँच–नीच और ब्राह्मण–शूद्र के भेद को सिरे से नकार दिया। इसलिए कबीर को समाज–सुधारक कहा जाता है। निस्संदेह इन सभी भेद–भावों के दूर होने से सुंदर समाज का निर्माण हो सकता है। ऐसा समाज जिसमें ब्राह्मण–शूद्र में कोई भेद न हो, जाति–पाति का भेद न हो और हर मनुष्य समान समझा जाए, मगर ऐसे समाज की रचना आज तक नहीं हो पाई है। कबीर कोई समाज–सुधारक नहीं थे। कबीर का मुख्य लक्ष्य मानव मात्र में समता और एकता स्थापित करना था। कबीर न तो किसी समाज–सुधारक की भाँति कोई उपदेश देने आए थे और न ही किसी सभा को स्थापित करना ही उनका उद्देश्य था। डॉ0 बच्चन सिंह ने भी उन्हें समाज सुधारक मानने से इनकार किया है। कबीर का लक्ष्य मानव–मात्र में समता औ एकता स्थापित करना था। वास्तव में कबीर मूल रूप से एक भक्त थे। वे ईश्वर भक्ति के साथ अपना जीवन शांति के साथ व्यतीत करना चाहते थे, मगर जब उन्होंने अपने आस–पास धर्म के नाम पर मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदों की खाई देखी, छल–कपट का व्यवहार देखा, वर्ग–भेद के कारण दुख–दैन्य का प्रसार देखा, तो वे अपने सुख को छोड़कर इस भेद–भाव को मिटाने में जुट गए।

कबीर की चेतना मूलतः आध्यात्मिक थी। उन्होंने साधना के सभी क्षेत्रों में बाह्याचार का विरोध किया है। वे सारे औपचारिक कर्मकाण्ड जिनके मूल में कोई तत्व नहीं है, कबीर के लिए व्यर्थ है। जिन नाथपंथियों से कबीर को जोड़ा जाता है, उनके आडंबरों का भी कबीर ने विरोध किया है। वे यह स्पष्ट देख रहे थे कि सभी धर्मो के लोग बाह्याडंबरों में ही फंसे हुए हैं, उनके मूल तत्व को नहीं जान रहे है। कबीर कहते हैं कि लोग जप–तप, रोजा–नमाज को ही धर्म मानते हैं। मगर वे यह प्रश्न करते हैं कि अगर मन ही साफ नहीं है तो 'अजू करने से क्या लाभ? नमाज करना या हज और काबा जाना तभी सार्थक है जब दिल में मैल न हो–

क्या अजू जप मंजन किए, क्या मसीति सिरू नांए।
दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज कावै जाए।।

कबीर ज्ञान के सहारे ही मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, तिलक, माला, कंठी जैसे बाह्याचारों का खंडन करते हैं। वे पुस्तक में लिखी बातों को भी निरर्थक मानते हैं। उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान और उसको अर्जित करने वाले पंडितों की जड़ता का अत्यंत निर्ममता से उपहास उड़ाया है। वे पुस्तकीय ज्ञान को भ्रम में डालने वाला ज्ञान मानते थे। इन्हीं पुस्तकों के

सहारे पंडितों ने जनता में अंधविश्वास फैलाकर उनका शोषण किया है। इसलिए कबीर इस प्रकार के पंडितों की निंदा तो करते हैं ही साथ ही साथ ज्ञान संबंधी अपनी मान्यता भी स्पष्ट करते हैं। कबीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि पढ़ने के फेर में मत पड़ो। पुस्तकें सहज बात को सहज तरीके से न कहकर और भी उलझा देती हैं–

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होई रे।
मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यो अरूझाई रे।।

कबीर के लिए ज्ञान ऐसा औजार था जिसकी सहायता से वह धर्म और मत–मतांतर के खंडन, प्रतिपादन में अपनी रक्षा और विरोधियों को पराजित करते थे। मोती सिंह ने उनके इस ज्ञानमार्ग पर लिखा है– ''उनका (कबीर) का रास्ता श्रद्धा और स्वीकृति का नहीं है, वरन् स्वानुभूति और स्वतंत्र चेतना का है। ज्ञान को वह स्वानुभूति के समकक्ष समझते थे। उनके लिए पुस्तकों में लिखे विचारों की जानकारी ज्ञान नहीं थी।'' कबीर के समाज–सुधार और विद्रोही चेतना के केन्द्र में आध्यात्म है। कबीर जिस 'ज्ञान की आँधी' की बात कहते हैं उसे कोई भी ऐहिक दर्शन और तर्क नहीं समझ सकता। वह एक संत का आध्यात्म है। जिसकी परिणति आँधी के बाद बरसने वाला पानी है–

आँधी पाछे जो जल बरसै
तिहि तेरा जन भीना।

यह आँधी और इसके बाद होने वाली बारिश मिलकर ही उस ज्ञान को सार्थक करते हैं जिससे मन और लोक से सारे अंधेरे छँट जाते हैं। कबीर इस ज्ञान की आँधी के बाद प्रेम की बारिश चाहते हैं– यानी राग का विस्तार और उदात्तीकरण। मगर इसके साथ ही कबीर उस पांडित्य को भी व्यर्थ मानते हैं जो सिर्फ ज्ञान का बोझ ढोना सिखाता है जो मनुष्य को जड़ बना देता है और जो मनुष्य को परमेश्वर के प्रेम से वंचित कर देता है–

पढ़ि–पढ़ि के पत्थर भया, लिखि–लिखि भया जूँ ईट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एको छींट।।
पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

कबीर का यह मानना था कि उस परम तत्व को प्रेम से ही पाया जा सकता है। समस्त बाह्याचारों की पहुँच से ऊपर है। कबीर ने सभी बाह्याडंबरों को अस्वीकार करके सिर्फ प्रेम को ही स्वीकार किया। प्रेम मनुष्य को मनुष्य से तो मिलाता है ही वह ईश्वर तक पहुँचने का माध्यम भी है। वे प्रेम आधारित समाज का निर्माण करना चाहते थे। मगर न तो लोग तब ही उनकी बातों को माने और न अब ही उनकी बातों को समझ रहे हैं। कबीर ऐसा समाज निर्मित करना चाहते थे जो आपसी प्रेम, भाईचारे और सद्भाव पर आधारित हो। जिसमें जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण की कोई दीवार न हो। मगर हम देखते हैं कि आज भी वही

कठमुल्लापन, पाखंड, बाह्याचार, मंदिर–मस्जिद के झगड़े, मनुष्य के श्रम की अवमानना समाज में फैली हुई है। अगर कबीर आज हमारे समय में होते तो निश्चित ही कर रहे होते–

जुगन–जुगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।

कबीर का यह विश्वास था कि सभी मनुष्य एक ही मूल से उत्पन्न हुए हैं। उनका कहना था कि जब सभी मनुष्य एक ही ज्योति से उत्पन्न हुए हैं, तब ब्राह्मण और शूद्र का वर्गीकरण कहाँ तक न्यासंगत है? धर्म का मर्म न समझना और मिथ्या को सच का दर्जा देना उस युग की विशेषता थी–

हिन्दू कहे मोहि राम पियारा, तुरूक कहे रहिमाना।
आपस में दोउ लड़ी–लड़ी मुए मरम न काहू जाना।।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, डॉ0 बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण–2009, पृ0 88
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण– 1976, पृ0 189
3. तिवारी, डॉ0 रामचन्द्र, कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1976, पृ0 134
4. सिंह, डॉ0 बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्णप्रकाशन, संस्करण 2009, पृ0 84
5. स्नातक, विजयेन्द्र (संपा.) कबीर, राधाकृष्ण प्रकाशन, आठवां संस्करण, पृ0 138

वैदिक साहित्य में 'वेद' विषयक दृष्टि

अरविन्द उपाध्याय
(शोधच्छात्र–संस्कृत)

बी0 आर0 डी0 वी0 डी0 पी0 जी0 कॉलेज
आश्रम बरहज, देवरिया उ0प्र0

वैदिक ग्रन्थों में 'वेद' शब्द दो प्रकार के पाये जाते है– अन्तोदात्त एवं आद्युदात्त। इनमें प्रथम प्रकार का शब्द 'दर्भमुष्टि' के अर्थ में एवं द्वितीय प्रकार का शब्द 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद–संहिता में 'असुन्' प्रत्ययान्त वेदः (वेदस्) शब्द अनेक बार आया है। भाष्यकारों के द्वारा इस शब्द का अर्थ 'धन' किया गया है। निघण्टु में भी धन के पर्यायवाची शब्दों में वेद शब्द पढ़ा गया है। ऐसा लगता है कि यह शब्द 'विद' ज्ञाने धातु से निष्पन्न न होकर 'विद्लृ लाभे' धातु से निष्पन्न है। ज्ञान अर्थवाची 'ज्ञा' और 'विद्' दोनों धातुए है, परन्तु इन दोनों के अर्थ में अन्तर है। भौतिक विद्याओं की जानकारी को ज्ञान एवं आध्यात्मिक विद्याओं की जानकारी को 'वेद' कहा जाता है।

'वेद' शब्द के अर्थ के विषय में अनेक विचार प्राप्त होते है। ऋग्वेद–प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति की प्रस्तावना में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है– ''विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वैभिर्धर्मादिपुरूषार्था इति वेदाः।'' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरूषार्थ प्राप्त किये जाते है उसे 'वेद' कहते है। सायणाचार्य ने 'वेद' शब्द के विषय में स्पष्ट कहा है कि जो ग्रन्थ अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार के लिए अलौकिक उपाय का ज्ञान कराता है, वह 'वेद' है।[1] सायणाचार्य के इस लक्षण में वेद का अर्थ ज्ञानमूलक है। वास्तव में जो उपाय प्रत्यक्ष, अनुमान एवं अन्य प्रमाणों से ज्ञात नही किये जा सकते उनके लिए प्रबल प्रमाण वेद ही है– 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।' तैत्तिरीय संहिता में वेद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि 'वेद' के द्वारा ही देवताओं ने असुरों की सम्पत्ति को प्राप्त किया, यही 'वेद' का वेदत्व है।[2] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐहलौकिक सुख–सम्पन्नता से सम्बन्धित जानकारी ज्ञान एवं पारलौकिक सुख–सम्पन्नता से सम्बन्धित जानकारी 'वेद' कहलाती है। आचार्य सायण के अनुसार जो ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा नही प्राप्त हो सकता उसका अवबोध 'वेद' के द्वारा हो जाता है, यही 'वेद' की वेदता है–

''प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।''

आचार्य सायण ने भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरूषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का परम साधन 'वेद' को ही स्वीकार किया है– ''अलौकिकं पुरूषार्थोपायं वेत्ति अनेन इति वेदशब्द निर्वचनम्।''

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचार, इन चारों अर्थो को बतलाने वाली 'विद्' धातु से वेद शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। इस धातु से करण और अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार वेद शब्द का अर्थ है– जिससे सभी मनुष्य सभी सत्य विद्याओं को जानते है, जिससे सम्पूर्ण जगत् स्थित है, जिससे लौकिक एवं पारलौकिक, सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते है, जिससे ग्राह्य एवं त्याज्य पदार्थो का विचार किया जाता है, उसे वेद कहा जाता है।

इस प्रकार भारतीय आस्तिक परम्परा के आधार पर यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया गया है कि 'वेद' शब्द का अभिधेयार्थ 'ज्ञान' है तथा विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान का उद्गम–स्थान भी वेद ही है।

वेद का स्वरूप–

विद्वानों में वेद के स्वरूप के सम्बन्ध में विभीन्न मत प्राप्त होते है। बौधायनगृह्यसूत्र में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे गये है।[3] कात्यायन विरचित 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' एवं 'सत्याषाढ़श्रौतसूत्र' भी मन्त्र और ब्राह्मण भाग को ही वेद स्वीकार करते है। आचार्य सायण ने भी मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनो को वेद माना है– ''मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः''। आचार्य जैमिनि ने मीमांसा–सूत्रों में मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानकर उनकी प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है। वास्तव में अठारहवीं शताब्दी से पूर्व के सभी विद्वानों ने मन्त्र और ब्राह्मण भाग को वेद स्वीकार किया है। वेद ऋषि–दृष्ट है, अपौरूषेय माने जाते है। वेद के इस तथ्य को मानने वाले विद्वान मात्र मन्त्रों को ही वेद मानते है। उनका कहना है कि ऋषियों ने मन्त्रों को संहितापाठ के रूप में ही देखा अतः संहितात्मक मन्त्र–भाग ही वेद है। ब्राह्मण भाग तो संहितात्मक मन्त्रों के भाष्य है। पाश्चात्य विद्वान् विल्सन और ग्रिफिथ ने भी मन्त्रों को ही वेद स्वीकार किया है, परन्तु मैक्समूलर महोदय का विचार उदारतापूर्ण है। उनके अनुसार वेद का अर्थ मात्र संहिता नही है, बल्कि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, आदि सभी वेद कहलाने की योग्यता रखते है।

वास्तव में वैदिक युग के सम्पूर्ण साहित्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् को वैदिक साहित्य माना गया है। साथ ही सब में संहिता ग्रन्थों के ज्ञान का ही सरल एवं ग्राह्य रूप प्रतिपादित होने से सभी वेद ही है।

वेदों का चतुर्धा विभाजन–

तपःपूत ऋषियों के अन्तःकरण से उद्भूत वेद–राशि प्रारम्भ में एक थी। कालान्तर में महर्षि कृष्ण–द्वैपायन (वेदव्यास) ने उसका चार संहिताओं के रूप में संकलन किया। ये संकलन ही ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता कहलाये।

उस संकलन के मूल में याज्ञिक अनुष्ठान की प्रक्रिया है। यज्ञ में प्रधानतः चार ऋत्विज होते है– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। होता नामक ऋत्विज् यज्ञ में ऋग्वेद का पाठ करके उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में बुलाता है। वह याज्या और अनुवाक्य ऋचाओं का पाठ करता है। उद्गाता नामक ऋत्विज् औदगात्र कर्म का सम्पादन सामवेद के मन्त्रों को गाकर करता है। जिन ऋचाओं के उपर साम का गायन होता है उन्हें 'योनि' कहते है। साम का पारिभाषिक नाम 'स्तोत्र' भी है। यज्ञ का प्रमुख ऋत्विज् अध्वर्यु होता है। वह प्रत्येक कर्म करते समय यजुर्वेद के मन्त्रों को पढ़ता है। अध्वर्यु यजुर्वेद के मन्त्रों का उपांशु रूप में पाठ करता हुआ अपने कार्यो का सम्पादन करता है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् का कार्य यज्ञ की वाह्य विघ्नों से रक्षा, स्वरों में सम्भावित त्रुटियों का निराकरण तथा अनुष्ठान में विविध दोषों को दूर करना होता है। इसीलिए तो यज्ञ का अध्यक्ष पद ब्रह्मा को ही प्रदत्त है। वास्तव में ब्रह्मा को ऋग्यजुस्साम का भी ज्ञाता होना चाहिए।

इस प्रकार यज्ञीय दृष्टि से इन चार ऋत्विजों के विविध कर्मो को दृष्टि में रखकर सम्पूर्ण वेद–राशि उपर्युक्त चार संहिताओं के रूप में विभाजित है।

जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था है उन छन्दोवद्ध मन्त्रों को 'ऋक्' कहा जाता है[4]। ऋचाओं पर गाये जाने वाले गायन को साम कहते है[5]। गद्यमय मन्त्रों को यजुष् कहते है, अर्थात् जो मन्त्र ऋचाओं और सामो से व्यतिरिक्त स्वरूप वाले है, वे यजुष कहलाते है[6]। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पादवद्ध मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद, सामयुक्त मन्त्रों का संकलन सामवेद, गद्यमय मन्त्रों का संकलन ही यजुर्वेद है। इस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से तीन ही वेद हुए। परन्तु सम्पूर्ण सामवेद में मात्र 75 मन्त्रों को छोड़कर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद से उद्धृत है। ऐसा अनेक विद्वान स्वीकार करते है जबकि 99 ऐसे मन्त्र है जो एकदम नवीन है। हो सकता है, ये नवीन मन्त्र ऋग्वेद की अनुपलब्ध शाखाओं से संकलित किये गये हों। इसी प्रकार यजुर्वेद में गद्यमय मन्त्रों के अतिरिक्त पादबद्ध पद्यमय मन्त्र भी पाये जाते है। हो सकता है, उनके पाठ करने की प्रणाली गद्यमय ही स्वीकार्य हो।

अब प्रश्न यह है कि ऋग्यजुस्साम रूप वेदत्रयी के अतिरिक्त चतुर्थ संहिता अथर्ववेद का उद्भव क्यों और किस प्रकार हुआ। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दोनो प्रकार के सुख–साधन आवश्यक है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक, तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करना भी आवश्यक है। ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद के माध्यम से पारलौकिक सुख–समृद्धि तो प्राप्त हो सकती है, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःख भी दूर हो जाते है परन्तु ऐहलौकिक सुख की प्राप्ति तथा आधिभौतिक दुःख का निवारण प्रत्यक्षरूपेण नही हो सकता। अतः ऋषियों ने इन उद्देश्यों की सद्यः पूर्ति के लिए अथर्ववेद का पृथक् संकलन किया।

वेदवाची शब्द–

'वेद' के पर्यायवाची शब्दों में श्रुति, आम्नाय, त्रयी, छन्दस्, स्वाध्याय, आगम और निगम मुख्य है। यहाँ इन शब्दों के अर्थ के विषय में विवेचन करना अप्रासंगिक नही होगा।

'श्रुति' शब्द का अर्थ है श्रवण किया या सुना हुआ। यह शब्द 'श्रु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर बना है। प्राचीन काल में गुरूपरम्परा से शिष्यगण सुनकर याद करते थे, इसीलिए वेद को श्रुति कहा गया। निरूक्त में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग मिलता है। वेद के लिए 'अनुश्रव' शब्द भी श्रुति का समानार्थी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद को श्रुति इसीलिए कहा जाता है कि लोग इससे सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान को सुनते हैं। इनके अनुसार केवल मन्त्र–भाग ही 'श्रुति' है।

जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दोनो प्रकार के सुख–साधन आवश्यक है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक, तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करना भी आवश्यक है। ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद के माध्यम से पारलौकिक सुख–समृद्धि तो प्राप्त हो सकती है, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःख भी दूर हो जाते है

वेद को आम्नाय भी कहा गया है। 'आम्नाय' पद आ उपसर्ग पूर्वक 'म्ना अभ्यासे' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है, जो ग्रन्थ अभ्यास के द्वारा कथित हो वह आम्नाय कहलाता है। गुरूमुख द्वारा बार–बार अभ्यास कराये जाने के कारण वेदों को आम्नाय कहा जाता है। 'त्रयी' शब्द भी वेद का समानार्थक है। वास्तव में ऋक्, यजुष् और साम को ही त्रयी कहते है। परन्तु इससे ऐसा समझना भ्रमपूर्ण होगा कि अथर्ववेद त्रयी नही है, क्योंकि अथर्ववेद में भी ऋक् और यजुष् मन्त्र हैं। ऋक्, यजुष् और साम का अर्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ही नहीं समझना चाहिए। ऋक् तो ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी हैं। इसी प्रकार यजुष् अथर्ववेद में भी हैं। वर्णित है कि जिन मन्त्रों में पादव्यवस्था हो वे ऋक् है तथा गद्यमय मन्त्र ही यजुष् हैं। षड्गुरूशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की वृत्ति में वेद की चारों संहिताओं को त्रयी माना है। वेद के पर्याय के रूप में 'छन्दस्' या चन्द शब्द का भी अनेक ग्रन्थों में प्रयोग प्राप्त होता है। अष्टाध्यायी में 'बहुलं छन्दसि' सूत्र अनेक बार आया है जिससे 'छन्दसि' शब्द का अर्थ 'वेद' में है। निरूक्त के रचयिता यास्काचार्य ने 'छन्द आच्छादने' धातु से इस शब्द को निष्पन्न माना है। यास्क के निर्वचन का आधार मैत्रायणी–संहिता, तैत्तिरीय–संहिता, छान्दोग्य ब्राह्मण एवं जैमिनि ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थ ही है। शतपथ–ब्राह्मण में छन्दस् शब्द का निर्वचन 'छन्द प्रीणने' धातु से किया गया है। छन्द का अर्थ है– बन्धन। अर्थात् निश्चित नियम में बंधे हुए शब्द–समूह को छन्दस् कहते हैं। कुछ विद्वान् पूजा अर्थ में पठित छन्द या छद् धातु से छन्दस् शब्द को निष्पन्न मानते है। इनके अनुसार वेद मन्त्रों को 'छन्दस्' इसलिए कहा जाता है कि इन्हीं के द्वारा देवताओं की पूजा होती है। अथवा हमारे द्वारा पूजनीय होने के कारण भी वेद छन्दस् हैं। वेद के स्वरूप के विषय में जब से 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' की धारणा प्रबल हुई तब से 'छन्दस्' के द्वारा ब्राह्मण–ग्रन्थों का भी ग्रहण किया जाने लगा।

पाणिनि ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिए 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग किया है। परवर्ती आचार्यो ने कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में भी छन्दस्त्व स्वीकार किया है।

'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ भी वेद ही है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः[7], स्वाध्यायान्मा प्रमदः[8] आदि वेदवाक्यों में 'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ वेद ही है। मनुस्मृति में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि द्विजातियों के लिए वेद का स्वाध्याय अपरिहार्य है, अतः स्वाध्याय का अर्थ भी वेद हो गया। उस समय वेदातिरिक्त कोई विषय स्वाध्याय के लिए स्वीकृत नही था। पश्पशाह्निक में ''रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्।'' इस वाक्य में 'आगम' शब्द वेद के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है। सांख्यकारिका की छठी कारिका में ईश्वर कृष्ण ने ''तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्'' के द्वारा भी मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिए 'आगम' शब्द का प्रयोग किया है। स्मर्तव्य है कि कालान्तर में तन्त्र के लिए एवं एक विशेष प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय के साहित्य के लिए भी 'आगम' शब्द का प्रयोग होने लगा, जैसे शैव आगम, वैष्णव आगम, जैन आगम एवं बौद्ध आगम आदि। वेद के लिए 'निगम' शब्द का प्रयोग भी प्रायः किया जाता है। यास्क ने निरूक्त में जितने उदाहरण वेदों से दिये हैं उनमें प्रायः सर्वत्र 'निगम' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द उन स्थलों पर 'वेद' का ही वाचक है। आगम और निगम दोनों ही पद–रचना एवं अर्थ की दृष्टि से लगभग समान ही हैं। अन्तर मात्र 'आ' और 'नि' उपसर्गो का है। 'आ' का अर्थ है मर्यादा, सीमा, और 'नि' का अर्थ है निश्चित रूप से। इस प्रकार जो ग्रन्थ सब ओर से ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख को प्राप्त करावे वह आगम, तथा जो ग्रन्थ निश्चित रूप से ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख की प्राप्ति के साधनभूत उपायों का ज्ञान करावे उसे निगम कहते हैं।

वेदों के भाग–

प्रत्येक 'वेद' के मुख्य चार विभाग है– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद।

1. संहिता– संहिता ग्रन्थों में मन्त्रों का संकलन है। ऋग्वेद के मन्त्रों को 'ऋचा' या 'ऋक्', सामवेद के मन्त्रों को 'साम', यजुर्वेद के मन्त्रों को 'यजुष्' कहते है एवं अथर्ववेद के मन्त्रों को भी इन्ही से अभिहित किया जाता है। सामवेद में ऋग्वेद के ही मन्त्र, जिनको सस्वर लय एवं ताल से गाया जा सके, संकलित किये गये है। इसमें मात्र 78 यन्त्र ऋग्वेद से नही लिए गये हैं। अथर्ववेद के भी लगभग 1200 मन्त्र ऋग्वेद से किए गये है, शेष मन्त्र स्वतन्त्र हैं।

2. ब्राह्मण– ब्राह्मण–ग्रन्थों में कर्मो तथा विनियोगों के अतिरिक्त मन्त्रों की व्याख्या की गयी है। विश्व–साहित्य में गद्यों का प्रादुर्भाव तो यजुर्वेद से ही हो जाता है, परन्तु उसका विकास ब्राह्मण–ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है। सभी ब्राह्मण–ग्रन्थ गद्यमय है। इनमें यज्ञों में होने वाले विविध–कर्मों का औचित्य ललित–कथाओं के माध्यम से बताया गया है। प्रत्येक वेद के अलग–अलग ब्राह्मण–ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण–ग्रन्थों में ही यह भी बतलाया गया है कि यज्ञ के किस कर्म में किस मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिए।

3. आरण्यक– आरण्यक अर्थात् जंगलों में पठनीय होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट भाग को आरण्यक कहा जाता है। वानप्रस्थाश्रम में करणीय यज्ञ, महाव्रत एवं हौत्र आदि

कर्मों, उनकी व्याख्याओं एवं विधियों का प्रतिपादन आरण्यक ग्रन्थों में किया गया है। साथ ही साथ इनमें यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या तथा दार्शनिक चिन्तन भी सन्निहित हैं।

4. उपनिषद्– वेद के अन्तिम भाग 'उपनिषद' शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'षद्लृ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। 'षद्लृ' धातु के चार अर्थ होते है– बैठना, नाश करना (विशरण), प्राप्त करना (गति) और शिथिल करना (अवसादन)। 'उप' का अर्थ है समीप और 'नि' का अर्थ है ध्यानपूर्वक।

अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ हुआ– शिष्य का गुरू के समीप ध्यानपूर्वक परमतत्त्व का गूढ़ उपदेश सुनने के लिए बैठना, जिससे शिष्य की अविद्या का नाश होता है, उसे ब्रह्म–प्राप्ति होती है तथा उसके कर्म–बन्धन एवं तज्जन्य दुःखादि का शिथिलीकरण होकर क्षय हो जाता है। इस प्रकार उपनिषद् शब्द अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और क्योंकि यह विद्या गुरू द्वारा अधिकारी शिष्य को एकान्त में दी जाती थी, अतः यह रहस्य विद्या या गुह्यविद्या भी कहलाई। उपनिषद् शब्द मुख्य रूप से ब्रह्मविद्या का वाचक है तथा गौण रूप से ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होता है। इन उपनिषद् ग्रन्थों को ही वेदान्त कहा जाता है क्योंकि ये वेद के अन्तिम भाग है तथा वैदिक दर्शन के सारभूत सुनिश्चित सिद्धान्तों के प्रतिपादक है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है, किन्तु प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण उपनिषद् 11 है जिन पर शंकराचार्य के भाष्य उपलब्ध है। ये है– ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। कुछ उपनिषद् गद्य में है, कुछ पद्य में और कुछ गद्य–पद्य में। छान्दोग्य और वृहदारण्यक सर्वाधिक प्राचीन माने जाते है। उपनिषद् भारतीय दर्शन की निधि है और उसके मूल स्रोत भी हैं। शोपेनहावर, मैक्समूलर, डायसन आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. इण्टप्रात्यकण्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। तै0भा0 भूमिका।
2. ''वेदेन वै देवा असुराणां असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद् वेदस्य वेदत्वम्।'' तै0 संहिता
3. मन्त्रब्राह्मयोर्वेदनामधेयम। वौधायन गृह्यसूत्र
4. तेषामक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। जै0सू0– 2/1/35
5. गीतिषु समाख्या। जै0सू0– 2/1/36
6. शेषे यजुः शब्दः। जै0सू0– 2/1/37
7. तै0 आरण्यक– 2/15
8. तै0उ0 1/11/1

श्रीमद् भागवत गीता में आत्मतत्व सम्बन्धी चिन्तन

डॉ0 विजय कुमार सिंह
(प्रवक्ता हिन्दी)

रघुवीर महाविद्यालय, थलोई,
भिखारीपुर कलॉ, जौनपुर
मो0 9452062709

आत्मा के सम्बन्ध में वैदिक काल से लेकर आज तक विद्वानों नें अपने मत व्यक्त किए हैं।उनका मानना है कि आत्मा अजर और अमर है। इसका कभी भी नास नहीं हो सकता है। सर्वप्रथम चार्वाकों की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि वे शरीर को ही आत्मा कहते हैं, यदि उसमें चैतन्य हो। कुछ चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। कुछ प्राण को और कुछ मन को भी आत्मा मानते हैं।

बौध्दों के अनुसार जीवात्मा विज्ञान के रूप में हैं। चूंकि विज्ञान क्षण–क्षण बदलने वाले प्रवाह के समकक्ष है। इसलिए आत्मा भी क्षण–क्षण बदलने के कारण अनित्य है। शून्यवादी बौध्द तो आत्मा के मूल रूप को शून्य ही मानते हैं किन्तु व्यवहार की दशा में आत्मा की प्रतीति भी उन्हें माननी पड़ती है। जैनों के अनुसार जीवात्मा नित्य तो है किन्तु उसमें विकार होते रहते हैं।

मीमांसकों का दूसरा सम्प्रदाय भाट्य–सम्प्रदाय मानता है कि आत्मा अंश के भेद से ज्ञान और जड़ दोनों के रूप में हैं। शैवः सांख्य और योग सम्प्रदायों में तथा वेदान्तियों के मत से आत्मा केवल जान के स्वरूप में है। यह अलग बात है कि अद्वैत वेदान्ती सांख्य और योग वाले आत्मा को निर्गुण मानते हैं जबकी द्वैत वेदान्ती विशिष्टाद्वैत–वेदान्ती नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को सगुण मानते हैं। रामानुज, मध्व और वल्लभ–सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि जीव का परमाणु अणु के समान है। नैयायिक विशेषिक, सांख्य, पातंजल तथा अव्दैत–वेदान्त वाले जीवात्मा को विभु कहते हैं। चार्वाक, शून्यवादी औार जैन लोग आत्मा को अणु और विभु के बीच में रखते है।

श्रीकृष्ण ने भगवत गीता में अर्जुन को आत्मा के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहा जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है तथा जो इस आत्मा को मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही आत्मा को नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न तो मरता है और न ही मारा जाता है। श्रीकृष्ण आगे कहते है कि यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है और न मरता है, क्योंकि यह वस्त्र ही तो बदलता है। न यह आत्मा होकर अन्य कुछ होने वाला है; क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य है। शाश्वत और पुरातन है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नास नहीं होता। कृष्ण की इस बात का समर्थन भक्तकालीन कवि तथा अन्य मनीषीगण भी करते

हैं, कि आत्मा अजर और अमर है।इसका कभी भी विनाश नही हो सकता। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि आत्मा ही सत्य है, आत्मा ही पुरातन है, आत्मा ही शाश्वत और सनातन है। आप कौन है? सनातन धर्म के अनुयायी। सनातन कौन है? आत्मा। आप आत्मा के अनुयायी है। आत्मा, परतात्मा और ब्रम्ह एक दूसरे के पर्याय हैं। आप कौन है? शाश्वत धर्म के उपासक।शाश्वत कौन है ? आत्मा। अर्थात हम और आप आत्मा के उपासक हैं।

अच्छेद्योयमदाम्होयमक्लेद्योशोष्य एव च ।
नित्य! सर्वगतःस्थाणुरचलोयं सनातनः।।1

अर्थात् यह आत्मा अच्छेद्य है– इसे छेदा नही जा सकता। यह अदाह्य है– इसे जलाया नहीं जा सकता। अक्लेद्य है– इसे गीला नहीं किया जा सकता । आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता । यह आत्मा निःसंदेह अशोष्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है। अर्जुन नें कहा था कि कुल धर्म सनातन है। ऐसा युध्द करने से सनातन धर्म नष्ट हो जाएगा।किन्तु श्रीकृष्ण ने इसे अज्ञान माना और आत्मा को ही सनातन बताया। आप कौन है? सनातन धर्म के अनुयायी। सनातन कौन है? आत्मा। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए आगे कहते हैं कि यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा इसे समझा नही जा सकता है।जब तक इन्द्रियों और विषयों का सयोंग है, तब तक आत्मा तो है, किन्तु उसे समझा नहीं जा सकता। वह अचिन्त्य है। जब तक चिन्त और चित्त की लहर है, तब तक वह शाश्वत है तो, किन्तु हमारे दर्शन, उपभोग और प्रवेश के लिए नहीं है।

आत्मा के सम्बन्ध में महर्षि याज्ञवल्क्य नें कहा है कि यह आत्मा ही लोक, परलोक और समस्त प्राणियों को भीतर से नियमित करता है। सूर्य, चन्द्रमां, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तारागण, अन्तरिक्ष, आकाश एवं प्रत्येक क्षण इस आत्मा के ही प्रशासन में है।आत्मा अक्षर है, इससे भिन्न सब नाशवान् हैं।

शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते है कि – ''यो हि अवयवागमेन उपचीयते स वर्धते अभिनव इति च उच्यते। अयं तु आत्मा निरवयत्वत् पुरा अपिनव एव इति पुराणोन वर्धते इत्यर्थः''1 – जो पदार्थ किसी अवयव के उत्पन्न होने से पुष्ट होता है, वह 'बढता' है, 'नया हुआ है' ऐसा कहा जाता है, परन्तु यह आत्मा तो अवयवरहित होने के कारण पहले भी नया था, अतः 'पुराण' है अर्थात बढता नहीं। 'पुराण' शब्द का अर्थ होता है 'पूर्व काल से होता हुआ भी चिर नूतन – पुरा+णवः पुरानवः पुराणः। यह अत्यन्त पुराना होता हुआ भी 'सदैव अत्यन्त नवीन जैसा ही विद्यमान है।

आत्मा के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने एक स्थान पर कहा है कि–

वसांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृहणान्ति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। 2

अर्थात ''जिस प्रकार मनुष्य फटे–पुराने कपड़ों को त्यगकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाता है।'' यदि यह बात सत्य है तो शिशु मर क्यों जाता है। यह वस्त्र तो और विकसित होना चाहिए। वस्तुतः यह शरीर संस्कारों पर आधारित है। जब संस्कार जीर्ण होते है तो शरीर छूट जाता है। यदि संस्कार दो दिन का है तो दूसरे दिन ही शरीर जीर्ण हो जाता है।वास्तव में देखा जाय तो संस्कार ही शरीर है। अतः आत्मा संस्कारों के अनुसार नया शरीर धारण कर लेता है।

गीता में एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य मर्त्यशील प्राणी नहीं है वह तो अजर–अमर अविनाशी आत्म–तत्व है। शरीर का चिन्तन दुर्बलता को जन्म देता है, तथा आत्मा का विचार हममें अक्षय शक्ति का संचार करता है। शरीर को तुच्छ मानने से ही महत् कार्य सम्पादित होते है ।जो शरीर को तुच्छ मानता है, वही त्याग कर सकता है, वही समाज देवता, राष्ट्रदेवता या विश्वदेवता की सेवा के लिए अपने जीवन को निछावर कर सकता है। शरीर को सर्वस्व मानने वाले लोग कभी महान नहीं बनें है। महान वे हैं जो अशरीर को ही सर्वस्व मानते हैं। अर्थात् आत्मा ही सर्वोपरि है। समस्त कामनाओं की पूर्ति आत्मा का चिन्तन करने से ही हो जाती है।

यह आत्मा ही लोक, परलोक और समस्त प्राणियों को भीतर से नियमित करता है। सुर्य, चन्द्रमां, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तारागण, अन्तरिक्ष, आकाश एवं प्रत्येक क्षण इस आत्मा के ही प्रशासन में है।आत्मा अक्षर है, इससे भिन्न सब नाशवान् हैं।

अतः कहा जा सकता है कि आत्मा सर्वशक्तिमान है। यह अनुपमेय है। इसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। आत्मा को हम शास्त्रों के सहारे भी नही जान सकते। क्योंकि शास्त्र स्वयं कहते हैं– 'नायमात्मा प्रवचनेन लक्ष्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' 1– यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणशक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त होता है। गीता के चौबीसवें श्लोक के उत्तरार्ध्द में आत्मा के लिए पांच विशेषण प्रयुक्त हुए हैं– नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन, तथा पचीसवें श्लोक के पूर्वार्ध्द में तीन और विशेषण जोड़ दिए गये हैं– अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है। ऐसे आठ विशेषण आत्मा के लिए लगाए गये हैं। इन आठों विशेषणों द्वारा यह बताया गया कि आत्मा पर किसी भी प्रकार की क्रिया का प्रभाव नहीं पड़ता। क्रिया का प्रभाव शरीर और मन पर पड़ता है– आत्मा पर नहीं। भगवान श्रीकृष्ण का तात्पर्य यह है कि 'अर्जुन' तुम युध्द रूपी क्रिया से क्यों घबरा रहे हो? वह तुम्हारे या तुम्हारे गुरूजनों अथवा आत्मीय स्वजनों के आत्मा पर किसी प्रकार की विक्रिया पैदा नहीं कर सकेगी।क्रिया केवल शरीर और मन को विकारग्रस्त करती है। तुम तो आत्मा हो। कर्म के चार प्रकार हैं– उत्पाद्य, विकार्य, सस्कार्य और प्राप्य। 'उत्पाद्य' वह है, जिसे उत्पन्न किया जाता है। 'विकार्य' वह है, जिसमें वस्तु पहले से तो है, पर उसके रूप में परिवर्तन होता है। 'संस्कार्य' वह है, जिसमे वस्तु के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं

होता, केवल उसके गुण में परिवर्तन लाया जाता है। 'प्राप्य वह है, जो अप्राप्त है और जिसे उद्यम पूर्वक पाया जाता है। इन चारों प्रकार के कर्मों का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता है, फिर भी यह आत्मा अस्तित्व में है और सनातन है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण नें कहा है कि – जब तक अन्तःकरण में विद्यमान वासना का रस सूख नहीं जाता, तब तक आत्मतत्व की प्रतीति अत्यन्त कठिन है। आत्मा के सम्बन्ध में एक बात और कही जाती है–

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन–माश्चर्यवद वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्ये नं वेद न चैव कश्चित ।।1

अर्थात् ''कोई इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है, कोई दूसरा इसका आश्चर्य के साथ कथन करता और कोई इसे आश्चर्य के समान सुनता है तथा कोई तो सुनकर भी इसे नहीं जान पाता।

आत्मा के सम्बन्ध में अर्जुन के मन में जब सन्देह हो जाता है कि आत्मा है भी या नहीं। क्या आत्मा सचमुच जन्म और मरणशील है? यदि आत्मत्व का स्वरूप निश्चित है, तो उसके सम्बन्ध में इतने विभिन्न मत क्यों है। इस मत का समाधन करते हुए श्रीकृष्ण बताते है कि आत्मा का स्वरूप अनिश्चित नही है, वस्तुतः आत्मा सुक्ष्म है इसलिए वह दुर्विजेय है। उसके दुर्विजेय होने के कारण लोग उसकी धरणा अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं और इसलिए मत वैभिन्य हो जाता है। गीता में एक स्थान पर आत्मा के लिए आश्चर्य का विशेषण लगाया गया है। जो वस्तु सबके लिए सुलभ है, वह आश्चर्य के श्रेणी में नही आती। पर जो दुर्लभ है और विरले देखने वालो को भी जो अलग–अलग दिखायी दे, वह स्वभाविक ही आश्चर्य की श्रेणी में आएगी। आत्मा का अनुभव अत्यन्त दुर्लभ है और जो इने–गिने लोग उसका अनुभव कर पाते हैं, वे अलग–अलग ढंग से उसकी व्याख्या करते हैं। वे कहते है कि– आत्मा के अनुभव के लिए अन्तःकरण रूपी यन्त्र का नितान्त शुध्द होना अनिवार्य है। वस्तुतः मन के द्वारा ही क्रमशः आत्मा के अनुभव की पात्रता प्राप्त होती है।मन के दर्पण में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकता है। जैसे हम सरोवर में स्नान करने जाये तो हमें वहां उसकी तलहटी में बहुत सी वस्तुएं दिखाई देगी, जिसमें एक लोहे की छड़ भी दिखाई देती है। पानी यदि हिलता रहे, तो लोहे का वह सीधा छड़ भी हमें टेढा–मेंढा अर्थात विकृत ही दिखाई देगा। यदि छड़ के वास्तविक स्वरूप को देखना है, तो पानी को एकदम शान्त होने देना होगा। जब जल नितान्त निश्चल हो जाएगा, तब छड़ जैसी है, ठीक वैसी ही आपको ऊपर से दिखेगी। ठीक उसी प्रकार यह आत्म तत्व मन रूपी जल के चंचल होने से विकृत दिखई देता है। जब यह मनोजल नितान्त शान्त, स्थिर और निश्चंचल हो जाता है, तो आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है।आत्मा का यह आश्चर्यमय आयाम आज वैज्ञानिको के लिए भी पहेली बना हुआ है। वे भी आत्मा के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह पातें। उनका मानना है कि आत्मा एक रहस्यमय तत्व है, जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा नही जा सकता है। सिर्फ और सिर्फ उसका चिन्तन किया जा सकता है। केनोपनिषद् में कहा गया है कि–

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञानतमयिवजानताम्।।1

जो समझता है कि मैं आत्मतत्व को नहीं जानता, वह उसे जानता है; और जो समझता है कि मैं उसे जानता हूं, वह उसे नही जानता; क्योंकि यह आत्मतत्व अजान के लिए जाना हुआ है और जानने वाले के लिए अजाना है। अर्थात कोई उस आत्म तत्व को अर्थ में जानने का दावा नही कर सकता, जिस अर्थ में हम संसार की वस्तुओं को जाना करते है। यही आत्मा की आश्चर्यरूपता है। गीता के 21 वें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– हे अर्जुन! जिस पुरूष ने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया कि आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह भला किसी को कैसे मार सकता है,या कैसे किसी को मारने का कारण बन सकता है? तू भी इस आत्मा को जान ले, मन और देह की गाँठ खोल मन को आत्मा से जोड़ ले, तो तेरा यह पाप–भय ज्ञान की अग्नि में दग्ध होकर राख हो जायेगा।

भगवान श्रीकृष्ण के इस कथन से जाना जा सकता है कि आत्मा कभी न समाप्त होने वाली शक्ति है, जिसे किसी भी काल अथवा परिस्थित में उस विशाल पर्वत की भाँति अटल देखा जा सकता है जो तमाम झंझावतों को सहन करते हुए अविचल खड़ा रहता है । कठोपनिषद् में भी आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है–

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्रं परिशिष्यते; एत द्वैतद्।।1।2।3

अर्थात हे नचिकेता! जिस इस आत्मतत्व के द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श एवं मैथुन का अनुभव होता है, उस आत्मा के अतिरिक्त अन्य क्या ज्ञातव्य है। यह वह आत्मा है। भगवत गीता में अनेक स्थलों पर ईश्वर को सर्वव्यापी बतलाया है। कठोपनिषद् में यमराज भी नचिकेता से कह रहे हैं– हे नचिकेता यह आत्मा एक स्थान पर बैठा हुआ भी दूर चला जाता है, सोता हुआ भी सभी ओर चला जाया करता है–

असीनोदूरं ब्रजति शयानोयाति सर्वतः!– कठोपनिषद् (1।2।21)

आत्मतत्व परिभुः है जिसका अर्थ है– सर्वश्रेष्ठ या सबसे ऊपर रहने वाला। वही सब पर प्रभाव डालकर सम्पूर्ण जगत् का नियंत्रण करता है, वह किसी के नियंत्रण में नहीं रहता।

यो मामजमनादिं च वेत्तिलोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।10।3

इस मंत्र में सर्वप्रथम आत्मा के स्वरूप का कथन करके यह बतलाया गया है कि वह ईश्वर 'याथात्तथ्यतः' यथार्थ स्थिति के अनुसार यथायोग्य शुभाशुभ – कर्मानुसार 'शाश्वतीभ्यः यमाभ्यः' अर्थात् सनातन वर्षों से, अनादिकाल से जीवों के कर्मों का निर्धारण करता है; कर्मों का विभाजन करता है। गीता में आत्मा का स्वरूप लक्षण 'शुक्रम' दिया गया है। इस पद का सामान्य अर्थ 'तेज' ग्रहण किया जाता है। शङ्करचार्य नें– 'शुक्रं शुध्दं ज्योतिष्मद्दीप्तिमान्' अर्थ किया है, अर्थात आत्मा शुध्द है ज्योतिमान्, दीप्तिमान है। अतः यह सर्वविदित है कि

आत्मा का हनन नहीं किया जा सकता। यह तो ऐसी सर्वशक्तिमान शक्ति है, जो हर परिस्थिति में उपस्थित रहती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1–यथार्थ गीता–स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज, पृष्ठ संख्या–37
2–गीता तत्व चिन्तन –स्वामी आत्मा नन्द– पृष्ठ संख्या–221
3–गीता अध्याय–2, श्लोक– 22
4–गीता तत्व चिन्तन–स्वामी आत्मा नन्द, पृष्ठ संख्या –212
5–गीताध्याय–2, श्लोक–29
6–गीताध्याय–2, श्लोक–29

मार्कण्डेय पुराण में ओंकार (ऊँ) का स्वरूप

डॉ0 विमल कुमार

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्याालय
इलाहाबाद

पुराण वेदों के उपबृंहण कर्ता हैं।[1] अतः पुराण में उनका प्रतिविम्ब परिलक्षित होना स्वाभाविक है। द्वादश मन्त्रात्मक अथर्ववेदीय उपनिषद् माण्डुक्य में ओंकार के स्वरूप को विधिवत् परिभाषित किया गया है। माण्डुक्योपनिषद् में ओंकार की तीन मात्रा अ, उ, और म के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर के अभिमानी विश्व ,तैजस और प्राज्ञ का वर्णन करते हुए उनका समष्टि–अभिमानी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर के साथ अभेद किया गया है। ये क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति के द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं। तथा इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द हैं।[2] यह अभिधेय रूप जो कुछ भी दृष्टिगत हो रहा है, वह सब ओंम् ही है।[3] यह जो हम तीन कालों की बात करते हैं अर्थात् भूत वर्तमान एवं भविष्य तीनों उसी एक परमात्मा की ही व्याख्या को प्रस्तुत करते हैं।[4] इसके अतिरिक्त जो तीनों कालों से परे, अपने कार्य से ही विदित होने वाला और काल से अपरिछेद्य अव्याकृत आदि भी ओंकार ही हैं। इस पुराण के अनुसार ब्रह्मा जी के श्रीमुख से सर्वप्रथम ओंम् शब्द का ही प्रादुर्भाव हुआ।[5]

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणाः पुराः।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ।।[6]

इसके पश्चात् भू, भुवः एवं स्वः क्रमशः उत्पन्न हुए। परमर्षि दत्तात्रेय ने योगी को योगयुक्त होने के लिये विश्वरूपी, विश्व के ईश्वर और विश्वभावन तथा सम्पूर्ण विश्व ही जिसका पाद है उस परम पवित्र ओंकार एकाक्षर का जाप करने का आदेश देते हैं। ओंकार के स्वरूप को निरूपित करते हुए अकार, मकार और उकार एवं अर्द्धमात्रा को ही ओंकार का स्वरूप माना हैं।[7] तीनों मात्रा क्रमशः सात्विक, राजसिक और तामसिक अर्थात् अकार सात्विक, मकार राजसिक एवं उकार तामसिक हैं।[8] ओंकार की अर्द्धमात्रा तीनों गुणों से परे है। माण्डुक्योपनिषद् के अनुसार यह अर्द्धमात्रा ही परमार्थतत्त्व है जो समस्त प्रपंच का अधिष्ठान है। यह सबसे विलक्षण तथा समस्त चराचर इसी में अधिष्ठित हैं। यह ओंकार का चतुर्थपाद अमात्र तुरीयात्मरूप है। किसी भी भ्रम के लिए एक अधिष्ठान की आवश्यकता होती है क्योंकि विना अधिष्ठान के कोई भी प्रपंच हो नही सकता अतः वह अधिष्ठान यह अर्द्धमात्रा अर्थात् तुरीय ही है।[9] यह तुरीय नित्य, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा और सर्वसाक्षी

है। उसमें अन्यथाग्रहणरूप स्वप्न और तत्वग्रहणरूप सुषुप्ति का अभाव एवं प्रकाश का प्राचुर्य है।[10] यह ऊर्ध्व में प्रतिष्ठित और योगी के लिए प्राप्य है। यह मात्रा गान्धार स्वर के रूप में है। ओंकार का जप करने से योगी की गति ऊपर की ओर ही होती है। इस ओंकार में संयुक्त होने से योगी पुरुष ओंकारमय हो जाता है। ओंम् इस अक्षर केवल उच्चारण मात्र से सम्पूर्ण सत् असत् ग्रहीत होते हैं।[11] ओंकार अक्षर संस्थान और स्थिरास्थिर अर्थात् सदसत् सम्पूर्ण पदार्थ तुम में ही विद्यमान रहते हैं तीन लोक, तीन वेद, तीन विद्या, तीन अग्नि, तीन ज्योति, तीन वर्ग, तीन धर्मादि, तीन गुण, तीन शब्द, तीन दोष, तीनों आश्रम, तीन काल, तीन अवस्था इत्यादि तीन मात्रा का स्वरूप है। ब्रह्मवादी लोग उस परमात्मा को अनिर्दिश्य परमरूप कहते हैं। वही अर्द्धमात्रा का संकेतक है। वह बह्म अविकारी अक्षम और अशेष है। उस ब्रह्म का उच्चारण जिह्वा, तालु, और ओष्ठादि द्वारा नहीं किया जा सकता है। इस पुराण ने ओंकार की बिन्दु मात्रा को अवर्णनीय, अगोचर तथा असाध्य बताया है। जिसे उपनिषद् ने अवाङ्मनसगोचर कहा है। या नेति नेति, या वाचारम्भण् नामधंयम कहा है। इस प्रकार से जो योगी ओंकार संज्ञक अक्षरस्वरूप परमब्रह्म को जानकर उनका स्मरण करते हैं वह कर्म के तीनों बन्धनों से छूटकर परमपुरूष परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। इसी पुराण में 98वें अध्याय में ओंकार को जगत् का प्रकाशक और कान्ति प्रदाता के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि सम्पूर्ण लोक प्रभावहीन, प्रकाशहीन एवं अन्धकारमय था। सर्वप्रथम एक बृहद अण्ड प्रकट हुआ ओंकार की इन तीनों व्याहृति को भगवान का स्वरूप कहा गया है जो परम सूक्ष्मरूप है। इसके पश्चात् स्थल रूप 'महः' उसके बाद 'जन' इसके पश्चात् 'तप' फिर सत्य उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ओंकार से स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से सात रूप उत्पन्न हुए। यह ओंकार विश्व के आदि और अन्त में रूप विहीन परम सूक्ष्म परमात्मा के रूप में स्थित हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में ओंकार से सात लोकों की उत्पत्ति को बताया गया है जिसे हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। ओंकार से ही तेज पुञ्ज को प्राप्त कर भगवान भास्कर सातों लोकों को प्रकाशित करते हैं। सृष्टि के आदि शब्द ओंकार को पुराणों ने भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। महाभारत के इस कथन **''इतिहासपुराणाभ्यांवेदमुपबृंहेत्''** को सार्थक करते हुए मार्कण्डेय पुराण ने 39वें अध्याय में ओंकार (प्रणव) को विस्तार से वर्णित किया है। यह ओंकार शब्द माण्डुक्य उपनिषद् का व्याख्येय है। उसी का अनुसरण किया गया है। महर्षि योगी दत्तात्रेय ने ओंकार ''ऊँ'' परम पवित्र स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसी एकाक्षर मन्त्र का जप करना चाहिए। जो परमात्मा के साथ एकाकार कराने में समर्थ है। माण्डुक्योपनिषद् में तो ओंम् को सब कुछ कह दिया गया है। यद्यपि यह बात गम्भीरता से विचार करने पर यहॉ निष्कर्ष रूप में प्राप्त होती है। ऊँ माण्डुक्य उपनिषद् में सर्वप्रथम संक्षेप में विस्तार रूप से सरल शैली में आख्यान द्वारा कहा गया कि यह ओंम् ही सब कुछ होती है। इसलिए किसी भी योगी के लिए आवश्यक है कि अक्षर स्वरूप परमब्रह्म ओंकार का ज्ञान प्राप्त करे। ओंकार की मात्राओं का परिगणन दो प्रकार से किया गया है व्यवहारिक एवं

परमार्थिक रुप से। यह ओंकार साढ़े तीन अक्षरात्मक है। अकार, उकार और मकार यह तीन अक्षर ही ओंकार स्वरूप हैं। यही तीन मात्रा हैं। यह तीनों मात्रा सात्विक, राजसिक और तामसिक स्वरूप वाले हैं। ओंकार में साढ़े तीन अक्षर व मात्राएँ जो परमार्थतः परिगणित हैं। अकार, उकार, मकार और अनुस्वार–बिन्दु हैं। प्रथम तीन मात्राएँ सगुण ब्रह्म को बताती हैं। अन्तिम अर्द्धमात्रा निर्गुण ब्रह्म का प्रकाशन करती हैं। इस ओंकार रूप धनुष और स्वात्मा रूप बाण से ब्रह्म का वेधन करना ही योगी का लक्ष्य है। इसमें गन्धार स्वर का आश्रय लिया गया है। इसलिए यह गन्धारी नाम से विख्यात है। इसकी प्रथम मात्रा– अकार व्यक्त, दूसरी मात्रा– उकार अव्यक्त का, तीसरी मात्रा– मकार चित् शक्ति और चौथी अर्धमात्रा बिन्दु परमपद की प्रतीक है। यह अर्द्धमात्रा एक चींटी की भाँति गति और स्पर्श मुक्त है। ओंकार प्रयुक्त होकर जिस प्रकार शिरोदेश के प्रति गमन करती है। इसी प्रकार योगयुक्त पुरुष ओंकर अक्षर मेंरम जाने पर ओंकारमय हो जाता है। यह ओंकार वेदों, श्लोकों, अग्नियों तथा तीनों देवों का प्रतीक है। इस ओंकार में संयुक्त होकर योगीजन इसी में अधिष्ठित हो जाते हैं।

अकार, मकार और उकार एवं अर्द्धमात्रा को ही ओंकार का स्वरूप माना हैं।[7] तीनों मात्रा क्रमशः सात्विक, राजसिक और तामसिक अर्थात् अकार सात्विक, मकार राजसिक एवं उकार तामसिक हैं।[8] ओंकार की अर्द्धमात्रा तीनों गुणों से परे है। माण्डुक्योपनिषद् के अनुसार यह अर्द्धमात्रा ही परमार्थतत्त्व है जो समस्त प्रपंच का अधिष्ठान है। यह सबसे विलक्षण तथा समस्त चराचर इसी में अधिष्ठित हैं। यह ओंकार का चतुर्थपाद अमात्र तुरीयात्मरूप है ।

इस प्रकार इस अध्याय में ओंकार से सात लोकों की उत्पत्ति को बताया गया है जिसे हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। ओंकार से ही वह तेज पुञ्ज को प्राप्त कर भगवान भास्कर सातों लोकों को प्रकाशित करते हैं। इस ओंकार की प्रसिद्धि आज भी सम्पूर्ण विश्व में विद्वानों के मध्य में उतनी ही है जितनी कि प्राचीन समय में थी ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1–महाभारत आदि पर्व 5/6।
2–माण्डुक्योपनिषद् गीताप्रेस ,भूमिकापृष्ठसं04
3–ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं.....।माण्डुक्योपनिषद्, प्रथम मन्त्र।
4–तस्योपव्याख्यानंभूतं .....।माण्डुक्योपनिषद्, प्रथम मन्त्र।
5–मार्कण्डेय पुराण 98/23
6–ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पृष्ठ सं0 22
7–मार्कण्डेय पुराण 39/3
8–वही 39/4
9– माण्डुक्योपनिषद्, गीताप्रेस भूमिका पृष्ठ सं0 04
10–वही
11–मार्कण्डेय पुराण 39/13

निर्मल की साहित्यिक चेतना

पायल
पीएचडी शोध छात्रा (जे.आर.एफ)
हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
ईमेलः payalsingh1014@yahoo.in

साहित्य के सम्बन्ध में आमतौर पर यह माना जाता है कि मानव ह्रदय में तरंगित होने वाली भावनाओं की शब्दों में सार्थक अभिव्यक्ति ही साहित्य है। इस सम्बन्ध में लगभग सभी साहित्यकार एक मत हैं परन्तु पिछले कुछ वर्षों से लगातार यह बहस चली आ रही है कि साहित्य में प्रमुख क्या है–कला या प्रयोजन?

बुद्धिजीवियों का एक वर्ग साहित्य में केवल समाज के हितों की पूर्ति देखना चाहता है। यह वर्ग प्रतिबद्ध साहित्य का पक्षधर है जिसकी धुरी केवल समाज के इर्द गिर्द घूमती हो, परन्तु दूसरा वर्ग साहित्य के अंतर्गत कला एंव अनुभव जैसे तत्वों को प्रमुखता देता है, क्योंकि साहित्य मनुष्य द्वारा निर्मित है और मनुष्य के भीतर अनेक व्यक्तिगत जीवन से जुड़ी संवेदनाएं व भाव हैं, जिन्हें वह अन्य लोगों के समक्ष उद्घाटित करना चाहता है। जहां एक ओर प्रेमचंद सरीखे लेखक कहते हैं कि ''साहित्य की बहुत सी परिभाषएं की गयी हैं पर मेंरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा "जीवन की आलोचना" है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो या कहानियों के या काव्य के, उसको हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"[1]

वहीं दूसरी ओर निर्मल वर्मा साहित्य के अंतर्गत कलात्मकता एंव नैतिक मूल्यों का सामंजस्य आवश्यक रूप से स्वीकार करते हैं। निर्मल के अनुसार कला एंव नैतिकता साहित्य के अनिवार्य तत्व हैं। इस सम्बन्ध में निर्मल वर्मा लेनिन का उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि "उदाहरण के तौर पर लेनिन का यह कथन कि साहित्य महज जनता की सेवा करने का उपकरण या सात्र की यह स्थापना कि साहित्य रचना स्वयं ही एक नैतिक कर्म है–ये दोनो रूख साहित्य और मूल्यों की समस्या को सुलझाते नहीं, उससे कतराकर निकल जाते हैं। निश्चय ही यह दोनों रूख वह लोग अपनाते हैं जो कला में कलात्मक आग्रहों के अलावा भी कुछ देखना चाहते हैं।"[2]

उपर्युक्त उदाहरण के माध्यम से निर्मल वर्मा साहित्य के भीतर किसी एक प्रयोजन की श्रेष्ठता को नकार कर साहित्य के मूल्यांकन में कलात्मकता एंव यथार्थ दोनों को महत्वपूर्ण मानते हैं। यथार्थ से निर्मल वर्मा का अभिप्राय लेखक की आस्था से है तथा लेखक की आस्था अनुभव से जुड़ी है। निर्मल वर्मा का मानना है कि साहित्य में अनुभव की

प्रधानता है। आंतरिक अनुभवों की कलात्मक प्रस्तुति ही साहित्य है अतः साहित्य के अंतर्गत कलात्मकता को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

निर्मल वर्मा का मानना है कि साहित्य न तो पूर्ण रूप से यथार्थ है और न कोरी कल्पना। साहित्य लेखक के अनुभवों व स्मृतियों के योग से मिलकर बनी ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसमें वह अपनी कलात्मकता के आधार पर कल्पना का समावेश करता है। कल्पना के मिश्रण की प्रक्रिया में समय का अंतराल भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अनुभव, स्मृति व कल्पना तीनो मिलकर जिस भाव का निर्माण करते हैं, वही एक रचना का मूल विषय होता है। ऐसे में तैयार हुई रचना लेखक से जुड़ी हुई होकर भी विच्छिन्न प्रतीत होती है। लेखक और रचना के बीच उत्पन्न हुई इसी विच्छिन्नता को निर्मल सौन्दर्य (रूप) की सबसे बड़ी कसौटी के रूप में देखते है क्योंकि लेखक से विच्छिन्न होते ही रचना बाह्य जगत से जुड़ जाती है और यही एक रचना की नियति होती है ।

साहित्यकार को विचार-धाराओं का अनुचर न बनकर एक स्वतंत्र एंव स्वायत्त सत्ता के रूप में खड़ा होना चाहिए जिससे वह शासन एवं सत्ता के दुरूपयोग को पूर्ण रूप से चुनौती दे सके, इसके साथ साथ साहित्य मनुष्य के भीतर तभी विवेक जाग्रत कर सकता है जब वह स्वयं अपने भीतर के दबावों, विचारधाराओं, रूढियों तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त हो तथा अपनी जड़ो से प्रेरणा पाती कलात्मक कल्पना व स्वायत्तता को बनाये रखे।

निर्मल वर्मा लेखक के लिए अनुभव व स्मृति को महत्वपूर्ण मानते हैं। जब तक कोई घटना या स्थिति लेखक को प्रभावित ना करें, वह उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर सकता। स्मृति अनुभव के माध्यम से घटना या वस्तु स्थिति से लेखक को जोड़ती है या उसके भीतर हलचल उत्पन्न करती है। आंतरिक हलचल को जब एक लेखक सामाजिक सन्दर्भ से जोड़ता है तब रचना का जन्म होता है। भीतर के अनुभव व संघर्ष से निकली पीड़ा जब कलात्मकता लिए सामूहिक पीड़ा से जुड़ती है तब वह अपने मूल में सर्वश्रेष्ठता व नैतिकता को प्राप्त करती है। लेखक की आन्तरिक हलचल ही उसे लिखने के लिए प्रेरित करती है। अनुभव एंव महसूस की गयी भावनाओं के आधार पर ही लेखक मौलिक लेखन में सफलता प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में निर्मल वर्मा अनुभव एवं अनुभूतियों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि –"मैं रेणु के उपन्यासों को बहुत पसन्द करता हूँ, लेकिन उनके पात्रों का सृजन करने की कल्पना कर ही नही सकता। रेणु का जीवन, परिवेश, ग्राम्य अनुभव, लोक संगीत यह सब उनके इतने निजी अनुभव की सम्पदा है कि एक कृति के रूप में उनका रसास्वादन तो मैं कर सकता हूँ, लेकिन इस तरह के उपन्यास रचने की बात मैं सोच भी नहीं सकता।"[3]

निर्मल वर्मा लेखन को एक पवित्र कर्म के रूप में देखते हैं। निर्मल के अनुसार लेखन ही लेखक का संघर्ष होता है। उसकी सार्थकता तभी है जब वह अपने अनुभवों को

समेटता हुआ मनुष्य की आकांक्षाओं और नागरिकों के दायित्व से जुड़ता है। निर्मल वर्मा लिखते हैं कि –"जो सचमुच लेखन के दायित्व के प्रति ईमानदार है, उसकी गम्भीरता को महसूस करता है, उसे उसी संयम और साधक के रूप में रहना चाहिए जैसे कोई समाज सुधारक व सन्यासी रहता है। लिखना बड़े त्याग की अपेक्षा रखता है। एक नियमित, संयमित जीवन लेखक के लिए आवश्यक होता है।"[4]

निर्मल वर्मा मानते हैं कि एक साहित्यकार के जीवन में ईमानदारी बेहद प्रमुख गुण है। एक साहित्यकार को पूर्वाग्रह मुक्त होना चाहिए तथा साहित्यिक विचारधाराओं का गुलाम नहीं होना चाहिए। हर युग की अलग अलग समस्याएँ व भिन्न–भिन्न अनुभव हैं अतः समस्याओं के साथ–साथ विचारधारा में परिवर्तन होना अनिवार्य है। साहित्यकार को विचारधाराओं का अनुचर न बनकर एक स्वतंत्र एंव स्वायत्त सत्ता के रूप में खड़ा होना चाहिए जिससे वह शासन एवं सत्ता के दुरूपयोग को पूर्ण रूप से चुनौती दे सके, इसके साथ साथ साहित्य मनुष्य के भीतर तभी विवेक जाग्रत कर सकता है जब वह स्वयं अपने भीतर के दबावों, विचारधाराओं, रूढियों तथा पूर्वार्ग्रहों से मुक्त हो तथा अपनी जड़ो से प्रेरणा पाती कलात्मक कल्पना व स्वायत्तता को बनाये रखे। इस सम्बन्ध में निर्मल वर्मा कहते है कि– "जहाँ विचारधाराओं का वर्चस्व स्वीकार किया जाता है, वहां साहित्य दूसरे दर्जे की भूमिका निभाने के लिए बाध्य होता है।''[5]

विचारधारा के सम्बन्ध में निर्मल वर्मा मानते हैं कि यदि कोई लेखक किसी खास तरह की विचारधारा से प्रभावित है भी तो उसका यह कर्तव्य बनता है कि वह उस विचारधारा के उजले पक्षों के साथ साथ उसके पतित एवं काले पक्ष पर भी अपनी बात उसी दृढ़ता के साथ रखे। इस सन्दर्भ में निर्मल वर्मा रेणु का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि "रेणु ने दिखाया है कि कैसे एक विचारधारा में आसक्ति होते हुए भी उसके पतन, उसकी दरीद्रता, आदर्शों को पूरा न कर पाने के विक्षोभ को मार्मिकता के साथ रखा जा सकता है। यह दिखता है कि सच्चा लेखक विचारधारा का गुलाम नहीं होता। वल्कि वह जीवन के विराट क्षेत्र में विचारधारा का उत्थान–पतन, किस तरह मनुष्य के जीवन में यह ज्वार–भाटे की तरह आता है, उसके जीवन को बदलता है, यह विश्वसनीयता के साथ दर्ज कर पाता है।"[6]

अतः निर्मल वर्मा मानते हैं कि साहित्य को मानव कल्याण के आदर्शों, संस्कारगत बिम्बों, जीवन की आकांक्षाओं और नागरिक दायित्वों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। साथ ही निर्मल वर्मा का यह भी मानना है कि न केवल साहित्य को बल्कि किसी भी क्रांति एंव समाज व्यवस्था को मानव की स्वतंत्रता एवं आकांक्षाओं से जुड़कर ही निर्णय लेने चाहिए। मानवीय स्वतंत्रता का महत्व प्रतिपादित करते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं कि–''कोई भी राजतंत्र–चाहे वह कितना ही क्रांतिकारी, मानव कल्याण के आदर्शें से ओत–प्रोत क्यों न हो– जब मेंरे संस्कारगत बिम्बों और मेंरे जीने की शर्तों को स्वयं परिभाषित करने लगता है, मैं जो हूँ, उसकी अवहेलना करके मुझे क्या होना चाहिए, इसे आंकने की जिम्मेदारी अपने

पर ओढ़ता है, तो वहीं से मेंरे विरोध की सार्थकता शुरू हाती है, वहीं से खुद अपने को पुनः परिभाषित करने का दायित्व शुरू होता है।''[7]

साहित्य एवं साहित्यकार की गरिमा स्थापित करते हुए निर्मल वर्मा ने साहित्य के अंतर्गत वर्षों से प्रचलित मिथक को भी तोड़ने की चेष्टा की है। अक्सर साहित्य के प्रयोजनों पर चर्चा की जाती है, परन्तु निर्मल वर्मा का मानना है कि साहित्य का शुद्ध रूप से कला एवं ज्ञान के सन्दर्भ में देखना चाहिए, उसमें व्यक्ति को अपने स्वार्थ साधने हेतु प्रयोजन नहीं ढूढने चाहिए? क्योंकि साहित्य रचना तो स्वयं ही अपने आप में एक बड़ा प्रयोजन है। प्रयोजन मूलक साहित्य समय की दीवारों को लांघकर कालांतर में अपनी उपस्थिति का एहसास कराने में सक्षम नहीं होता। साहित्य के अन्तर्गत स्वार्थ सिद्धि साहित्य की महत्ता एवं मूल्यवत्ता की शाश्वत गति को रोक देती है। इस सम्बन्ध में निर्मल वर्मा कहते है कि ''मुझे नहीं लगता, मैं साहित्य व भीतर छिपे सन्निहित किसी प्रच्छन्न प्रयोजन को आपके सम्मुख अनावृत कर पाउँगा, मुझे यह भी डर है कि अन्य छलनाओं की तरह सहित्य में प्रयोजन ढूँढना अपने में ही तो क्या एक और छलना नहीं है? क्या उसका अपने में होना–इतने धक्कों, थपेड़ों, प्रहारों के बावजूद– क्या इसे ही एक वरदान मानकर संतुष्ट होना काफी नहीं है ?''[8]

इस सम्बन्ध में निर्मल वर्मा मानते है कि साहित्य के भीतर यह गुण छिपा है कि वह व्यक्ति के आंतरिक सत्य को उजागर कर सकता है। साहित्य का उदय ही भीतरी–बाहरी अनुभवों, अनसुलझे रहस्यों व छिपे सत्यों के मेलजोल से होता है। साहित्य का मूलभाव साहित्य के भीतर ही छिपा रहता है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने ढंग से खोलता है परंतु जो लोग साहित्य के अंतर्गत छिपे सत्य को न जानकर, अपनी–अपनी रूचियों के अनुसार उसका अर्थ ग्रहण करते हैं तब केवल साहित्य के मनोरंजनात्मक रूप से ही साक्षात्कार कर पाते हैं, उसके भीतर निहित आनन्द से नहीं जो कि निःस्वार्थ भाव से ही प्रप्त होता है। निर्मल वर्मा स्वयं साहित्य को आनन्द का वास मानते हुए कहते हैं कि–''आनन्द यदि संलग्नता का भाव है तो साहित्य उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि; क्योंकि साहित्य का अर्थ ही सहित भाव से उत्पन्न होता है। शब्दों के परस्पर सानिध्य से मनुष्य के बारे में ऐसे अप्रत्याशित सत्य उजागर होते हैं, जिनके बारे में हमें पहले कुछ नहीं मालुम था। यही कारण है, साहित्य का अर्थ कहीं बाहर नहीं है, वह स्वयं कहानी या कविता के शब्दों में ही अंतर्गुम्फित रहता है।''[9]

अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य के भीतर मनुष्य को विवेकवान बनाने की अपरिहार्य क्षमता है। जैसे–जैसे व्यक्ति श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों के सम्पर्क में आता है, वैसे–वैसे वह स्वयं को सम्पूर्णता में देखने लगता है। जो लोग साहित्य के इस आत्म सत्य को नकारकर उसे केवल मनोरंजन, कला, एस्थेटिक सौन्दर्य या विद्वान बनाने का माध्यम मानकर अपनी स्वार्थपूर्ति की आकाक्षां रखते है, उनके लिए साहित्य नगण्य है। साहित्य तो बिना किसी स्वार्थ सिद्धि के श्रद्धापूर्वक अपने में आत्मसात किए जाने पर ही व्यक्ति को

समृद्ध करता है। इस सन्दर्भ में मैं निर्मल वर्मा को भी अपनी बात का समर्थन करते हुए पाती हूँ। वह लिखते हैं–''साहित्य जितना ही अधिक मनुष्य को अपने अर्थों से संम्पन्न और समृद्ध करता चलेगा उतना ही स्वयं किसी भी प्रयोजन से रिक्त होता जाएगा। प्रयोजनमुक्त साहित्य में ही अर्थ–युक्त मानव की छवि देखी जा सकेगी।''[10]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध,सत्य प्रकाश मिश्र, ज्योति प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 2003, साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ–87।
2. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा,भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पांचवां संस्करण–2011,पृष्ठ–26।
3. साहित्य का आत्म सत्य,निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली,पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–74।
4. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–79।
5. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–76।
6. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–78।
7. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा,भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पांचवां संस्करण–2011,पृष्ठ–78।
8. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–29।
9. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–31।
10. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पहला ज्ञानपीठ संस्करण 2010, पृष्ठ–32।

ब्रह्म स्वरूप विमर्श : ''ज्योतिषां ज्योतिः''

पीयूष मिश्र

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ईमेलः piyushmishra38@gmail.com

श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों में सृष्टि का मूल कारण परंब्रह्म को माना गया है। सृष्टि–उत्पत्ति का मूलकारण होने से इसके तेजोमय पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान करना परम श्रेय है। अभेदवादी आचार्यों की दृष्टि में चैतन्य ही ब्रह्म का स्वरूप है जिसकी अनन्तता सर्वसिद्ध है। श्रुतियाँ ब्रह्म को आत्मा पद से इंगित करती हुई उसकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं जगत्कारणता को बतलाती हैं–

''तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्''।[1]

जो बृहत्तम है वही ब्रह्म है– **''बृहणात् ब्रह्म''।**[2] ब्रह्म शब्द **'बृह'** बृद्धौ धातु **'मनिन्'** प्रत्यय से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है–सर्वव्यापक, विभु, सर्वशक्तिमान व नित्य। संसार की सकल प्रत्यक्ष होने वाली वस्तुओं में व्यभिचार (परिवर्तन) देखा जाता है जबकि परमात्मतत्व त्रिकालबाधित, देश–काल, परिच्छेद से शून्य है–

''यद्विषया बुद्धि न व्यभिचरति तत् सत्''।[3]

ब्रह्मतत्व तीनों कालों में एक सा बना रहता है–

''अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः''।[4]

सत् होने के साथ वह ज्ञानस्वरूप भी है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, उसका गुण या धर्म नहीं है। जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूप है वैसे ही ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। श्रुतियों द्वारा प्रमाणित अनुभव है कि ज्ञान और आत्मा अभिन्नवत् है। ज्ञान दो प्रकार के अर्थों को व्यंजित करता है–प्रथम आत्मा का स्वरूपस्थ ज्ञान तथा द्वितीय वाह्य रूप घट–पटादि विषयक अनित्यज्ञान। लौकिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से इन दोनों में भेद है–

''दृष्टिरिति द्विविधा भवति–लौकिकी पारमार्थिकी चेति।
तत्र लौकिकी चक्षुःसंयुक्ता अन्तःकरणवृत्तिः।
या त्वात्मनोः दृष्टिः अग्न्युष्णप्रकाशादिवत्,
सा च दृष्टः स्वरूपत्वान्न जायते विनश्यति च''।[5]

वस्तुतः घट–पटादि संयुक्त अनित्यज्ञान भी चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होकर हमारे बुद्धि के विषय बनते हैं। बुद्धि में घटाकारित, पटाकारित जो वृत्तियाँ व्याप्त हैं वास्तव में उनका स्वरूप अचेतन है फिर भी स्वतः संवेद्य, ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही इन विषयों,

प्रवृत्तियों का अधिष्ठान् है जो प्रत्यक्चैतन्य के रूप में अन्तः सन्निविष्ट् है। लौकिक वृत्तिज्ञान अर्थात् जागतिक क्षणिक अनुभव को प्रकाशित करने वाला इनका साक्षी चैतन्य स्वरूप आत्मा ही स्वयं प्रकाश, अपरोक्षतत्व व संवित् ज्ञान रूप ब्रह्म ही है। उसे ही रूपब्रह्म, कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, शान्तब्रह्म, शब्दब्रह्म, सौन्दर्यब्रह्म, नादब्रह्म, परंब्रह्म इत्यादि नामों से कहा जाता है।

वह परम पुरुष आदित्यरूप, चन्द्ररूप, वागरूप, अग्निरूप तथा आत्मरूप ज्योति वाला है। प्रथम चार ज्योति रूपों में वह ब्रह्म बैठता है, सब ओर गमन करता है, जागतिक संचरण का कारण बनता है। इन सभी ज्योतियों में आत्मज्योति विलक्षण है। आदित्य तथा चन्द्रमा के अस्त होने पर, वाक व अग्नि के शान्त होने पर यह पुरुष आत्मज्योति वाला होता है

अद्वैत वेदान्त में चैतन्य को समझने के लिए प्रदीप्त प्रकाश का विम्ब गृहीत किया गया है। वह तत्त्व किस ज्योतिवाला है? याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं–कि वह परम पुरुष आदित्यरूप, चन्द्ररूप, वाग्रूप, अग्निरूप तथा आत्मरूप ज्योति वाला है। प्रथम चार ज्योति रूपों में वह ब्रह्म बैठता है, सब ओर गमन करता है, जागतिक संचरण का कारण बनता है। इन सभी ज्योतियों में आत्मज्योति विलक्षण है। आदित्य तथा चन्द्रमा के अस्त होने पर, वाक व अग्नि के शान्त होने पर यह पुरुष आत्मज्योति वाला होता है–

"अस्तमित आदित्ये चन्द्रमस्य स्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि"।[6]

इसकी चर्चा गीता शास्त्र में परमधाम विमर्श के परिप्रेक्ष्य में अवलोकनीय है–

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"।[7]

आचार्य शंकर कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकाश को प्रकाशित होने के लिए प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानात्मा को भी प्रकाशित होने के लिए किसी ज्ञानान्तर प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वरूपतः स्वयंप्रकाश है–

"संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदानान्तरापेक्षा च सम्भवति।
यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवस्तद्वत्"।[8]

प्राणों और बुद्धिवृत्तियों के भीतर व्याप्त विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरूष, लोक एवं परलोक में संचरण करते हुए प्राणवृत्ति के रूप में चेष्टा करता है और (शरीर तथा इन्द्रियरूप) मृत्यु रूपों का अतिक्रमण भी करता है– **"पुरुषः आकाशवत् सर्वगतातत्वात् पूर्ण इति पुरुषः निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्टम् सर्वावभासकत्वात्"।**[9] अपने स्थान पर रहते हुए भी यह पुरुष सतत् गतिमान रहने वाली वस्तुओं को परिमित कर देता है। सृष्ट्युत्पत्ति प्रक्रिया की तुलना अग्नि से निकलती हुई स्फुलिंग से की गई है–

"मुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावाः प्रजायन्ते चैवापि यन्ति"।[10]

सूर्यादि को भी अपने अस्तित्त्व प्रकाशन के लिए इस पुरुष की अन्तस्थ सर्वव्यापक चिज्ज्योति की अपेक्षा है जो आदित्यादि से व्यतिरिक्त ज्योति है–

''सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्। प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्। वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः''।[11]

जिस प्रकार अन्धकार में समस्त पदार्थ सम्मुख होते हुए भी दीपक के प्रकाश से युक्त होकर उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सारे जागतिक पदार्थ बुद्धिस्थ चित् विज्ञान के प्रकाश से विशिष्ट् होकर ही प्रकाशित होते हैं। प्राण के रूप में हृद्यन्त चेतनतत्त्व से चेतनावान सा होकर यह देहेन्द्रिय संघात सूर्य के प्रकाश में स्थित् घट के समान प्रकाशित रहता है–

''ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवतारभिरधिष्ठितं''।[12]

गीता का भी अभिमत है कि जो प्रकाश करने वाला तेज शशांक, चन्द्रमा में अन्तर्भूत है ओर जो अग्नि में वर्तमान है, उस तेज को तू मेरी अपनी ज्योति समझ–

''यद् आदित्यगतं तेजः चैतन्यात्मकं ज्योतिः यत् चन्द्रमसि।
यत च अग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकं मदीयं ज्योतिः''।[13]

देवताओं सहित समस्त प्राणों में अन्तर्निहित शक्ति ब्रह्म की ही पराशक्ति है। श्रुति कहती है कि ब्रह्मतत्व इन्द्रादि देवताओं के सम्मुख विद्युत की तरह अन्धकार को चीरकर प्रकट हुआ था–

''यदेतद्विद्युतो व्युद्यतदाउ इतिन्यमीमिषदाउ''।[14]

अंधकार को विदीर्ण करने की शक्ति केवल प्रकाश में ही अनुस्यूत है। सबका प्रकाशक और स्वयं दूसरे से अप्रकाश्य होने के कारण इसकी स्वयंप्रकाशता सर्वोपरि है। स्वयंप्रकाशता का तात्पर्य है– इन्द्रिय गोचर न होने के बावजूद भी जिसकी अपरोक्षानुभूति हो। चित्सुखाचार्य कहते हैं कि स्वयंप्रकाशत्व का साक्षात् अर्थ अवेद्यत्वविशिष्ट् अपरोक्षव्यवहार योग्यत्व शक्ति से है–

''अवेद्यत्वे सत्यपरोक्ष व्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात''।[15]

यह अमृत ज्योति सभी देवताओं की आयु है क्योंकि इसी ज्योति के कारण वे दीर्घकाल तक द्योतित होते रहते हैं। आद्य आचार्य यज्ञ के विषय में कहते हैं कि यज्ञ, पुरुष में अन्तर्भूत प्रकाशतत्व का ही रूप है– **''पुरुषो वाव यज्ञः''।**[16] इस परमपुरुष प्रकाश के भय से सूर्य गर्मी देता है, अग्नि तपता है, इन्द्र, वायु तथा मृत्यु अपने कार्यों में सदैव निरत रहते हैं–

''भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः''।[17]

ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय के विभाजन से रहित वही प्रकाश पुरुष **''प्रज्ञानंब्रह्म''** **''विज्ञानंब्रह्म''** तथा **''विज्ञानमय''** के रूप में स्वरूपतः अद्वैत तत्व है। विभाग वहाँ संभव है जहाँ द्वैत हो अर्थात् जहाँ एक ज्ञाता हो तथा दूसरा ज्ञान का विषय बन सके। जैसे नमक

का एक टुकड़ा भीतर–बाहर सभी ओर से नमकीन ही होता है उसी प्रकार वह परमात्मा भी सर्वतोभावेन प्रकाश पुंज प्रज्ञाघन है–

''स यथा सैन्धवद्यनोऽनन्तरोऽबाह्य कृत्स्नो रसघन।
एवैवं व अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्य कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवं''।[18]

जो धनीभूत सत्, चित और आनन्द है, अन्तरात्मा, एक रस, परिपूर्ण, अनन्त और सर्वव्यापक है, ऐसा एक नित्य, अक्रिय और अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य वस्तु है जिसमें कोई नाना पदार्थ नहीं है–

''सद्धनं चिदधनं नित्यमानन्दधनमक्रियम्।
एकमेवाद्वयं नेह नानास्ति किंचन''।[19]

इस चैतन्य रूपी पुरुष को ग्यारह दरवाजों वाला बताया गया है, जिसमें दो कान, दो नेत्र, दो नाक, एक मुख, एक सिर में स्थित् ब्रह्मद्वार, नाभि, मूत्रद्वार तथा गुदा समाहित है। शांकरभाष्य में ये सभी पुरुष के द्वार बताये गये हैं। इस देह में रहते हुए भी इसके दुःखादि में इस तत्व की संलिप्तता शून्य है– **''न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्याः''।**[20] जैसे घड़े के धर्मों से आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही यह तत्व जड़ रूपी देह के किसी भी स्थल में लोटता रहे, इसके दैहिक धर्मों से सदैव निर्लिप्त ही रहता है–

''जले वापि स्थले स्वापि लुठत्वेष जड़ात्मकः।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा''।[21]

सूक्ष्म आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म दैहिक धर्म गुणातीत है–

''यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते''।[22]

प्रतिबिम्बवाद व अवच्छेदवाद इसी प्रत्यक्चैतन्य की विवर्तात्मक व्याख्या है।

उपनिषदों में इस प्रकाश तत्व को भूमा कहा जाता है। भूमा ही सुख तथा आनन्द का आकर है। जहाँ दृष्टिभेद, श्रवणभेद तथा ज्ञानभेद की शून्यता है वही भूमा है। दुःख के बीजभूत तृष्णादि का अतिक्रमण करने वाला भूमा महान, निरतिशय, सुखरूप है–

''यो वै भूमा महन्निरतिशयं बह्वितिपर्यायास्तत्सुखम्''।[23]

आनन्दमय आत्मा ही सबको आनन्द व सुख देने वाला है–

''एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते
(आनन्दमयोऽभ्यासात्)''।[24]

इस संसार को ब्रह्म का विवर्त माना गया है। सूक्ष्म दृष्टि में विवर्त मूल कारण के प्रकाश का ही द्योतक है। इस शक्तिमान तत्व के प्रकाश में विवर्तात्मक जगत् के सम्पूर्ण उपमान प्रकाशित हो रहे हैं–

''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति''।[25]

वह सबका परमगति, परमधाम है। जो अक्षर नामक अव्यक्तभाव है, वही परमगति है। जिस प्रकार खिलौना मिलने पर बालक अपनी भूख और शारीरिक व्यथा को भी भूलकर

उससे खेलने में लगा रहता है उसी प्रकार अहंकार और ममता से निर्मूल तत्वज्ञानी पुरुष आत्मबोध कर परमगति, परमधाम परमात्मा में आनन्दपूर्वक रमण करता है–

''क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि।
तथैव विद्वान रमते निर्ममो निरहं सुखी''।[26]

आत्मज्ञान की प्राप्ति पश्चात् ज्ञानी को अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। सभी द्वन्द्वों से मुक्त हुई उसकी व्यष्टिगत आत्मिक ज्योति संवर्तरूप ब्रह्मात्म प्रकाश में विलीन होने लगती है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि इस विशाल विश्व के भीतर देश–काल से विभक्त, भूत, वर्तमान तथा अनागत में होने वाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक रह सके अर्थात् आत्मा से भिन्न उनका अस्तित्व नहीं है–

''नहि आत्मनोऽन्यत् तत्प्रविभक्तं देशकालं भूतभवत् भविष्यद्धावस्तु विद्यते।
यदा नामरूपे व्याक्रियते''।[27]

माया से निरवच्छिन्न यही परमात्मा बोधस्वरूप, जानने–पहचानने एवं तत्वज्ञान करने योग्य है। सकल ब्रह्माण्डीय चराचर के हृदयदेश रूपी गर्भ में स्थित् वह परमेश्वर सहस्र ज्योतियों का भी प्रकाशक परंज्योति है– **''ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानमयं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्''**[28] नाम, रूप, जाति से व्याकृत जागतिक पदार्थ भले विभिन्न प्रतीत हो रहे हों परन्तु उनके भीतर चैतन्यरूपी एक ही परमात्मा का प्रकाश अंश प्रसारित हो रहा है। जगत् के पदार्थ कार्यरूप हैं जिनका कारण स्वयं ब्रह्म है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय रूपी कलाएँ उस चैतन्यरूपी महाकलाकार की मात्र आंशिक कला है–

''चैतन्याव्यतिरेकेण एव हि कलाः जायमानाः तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते''।[29]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्र0सू0शा0भा0 1.1.11
2. तै0उप0शा0भा0, पृ0 98 (गीता प्रेस)
3. गीता शा0भा0, 2.15
4. कठ0उप0 2.1.13
5. बृह0उप0शा0भा0 3.4.2
6. बृ0उप0शा0भा0 4.3.6
7. गीता शा0भा0, 15.6
8. केन0उप0 शा0भा0, 2.4
9. बृह0उप0शा0भा0 43.7
10. मु0उप0शा0भा0 2.1.4
11. श्वेता0 उप0शा0भा0 5.4
12. ब्रू0सू0शा0भा0 2.4.13
13. गीता शा0भा0 15.12
14. केन0उप0 4.4
15. चित्सुखाचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका, पृ0 16

16. छा0उप0 3.16.1
17. कठ0उप0 2.3.3
18. ब्र0सू0शा0भा0 4.5.13
19. विवेकचूणामणि–466
20. कठ0उप0 2.2.11
21. विवेकचूणामणि 510
22. गीता 13.32
23. छा0उप0शा0भ0 7.23.1
24. ब्र0सू0शा0भा0 1.1.12
25. कठ0उप0
26. विवेकचूणामणि 538
27. ब्र0सू0शा0भा0 2.1.6
28. गीता 13.17
29. प्रश्न0उप0शा0भा0 6.2

राष्ट्रीय राजनीति एवं क्षेत्रीय दलों का अध्ययन

संतोष कुमार उपाध्याय

शोध छात्र
राजनीति विज्ञान
महारानी लक्ष्मीबाई शासकीय उत्कृष्ट महाविद्यालय
ग्वालियर, (म0 प्र0)

राष्ट्रीय राजनीति के वास्तविक स्वरूप एवं प्रादुर्भाव को समझने एवं जानने के लिए पहले हमें राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं परिभाषा का आशय स्पष्ट करना चाहिए। सबसे पहले हमें राष्ट्रीय शब्द को समझना है क्योंकि यही वह आधारशिला हैं जिस पर पूरा अनुसंधान अपना महल बनाएगा। राष्ट्रीय धरातल पर परिवारों, कुलों ग्रामो, नगरों एवं समस्त सभ्यताओं की अपनी एक संस्कृतिपूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति होती है। इन सबके समूह, देश और प्रान्तों में कही–कही विभाजित भी हो जाती है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही कि राष्ट्रीयता बँट जाय। प्रत्येक राष्ट्र के अपने अपने हित होते है जिन्हें राष्ट्रीय हित कहते है। 'राष्ट्र' एवं 'राष्ट्रीयता' दोनो शब्दों की उत्पत्ति लैटिन भाषा के नेशियो (Natio) शब्द से हुई है राष्ट्र का अर्थ जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा, परम्परायें, आर्थिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक एकता से होता है। जब कोई देश या राष्ट्र अपने हित सम्वर्धन के लक्ष्य का निर्धारण करके आगे बढ़ता है, मार्ग में आने वाली बाँधाओं को राष्ट्र से सर्वोच्च नही गौड़ मानता है यही राष्ट्रीयता का मेरे विचार से सर्वोच्च प्रमाण है और यही राष्ट्रीय नियमन भी है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने राष्ट्रवाद में कहा था कि –''प्रत्येक राष्ट्र का अपना अपना आदर्श होता है। जो उसकी रीढ़ की हड्डी का काम करता हैं। किसी भी देश की रीढ़ की हड्डी, राजनीति होती है, किसी की सामाजिक संस्कृति, किसी की नैतिक संस्कृति आदि। राष्ट्रवाद का अर्थ है–''मूल्यों से पदसोपान में अपने राष्ट्र को सर्वोच्च स्थान प्रदान करना''। इस तरह स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्रवाद पुनरूत्थानवाद है। जबकि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी कहा–'वेदो की ओर लौटो'' क्योंकि हमारी संस्कृति ही हमारी राष्ट्रीयता है इसलिए उन्होंने कहां कि भारत जमीन का टुकड़ा नहीं बल्कि एक 'पुण्य' भूमि हैं।[1]

राष्ट्र का अर्थ है– एक ऐतिहासिक विचार, एक सांस्कृतिक चेतना, एक सीमाबद्ध ईकाई, एवं अपनत्व की भावना। इसी प्रकार हितों की समानता का भाव, सुख–दुख की समान अनुभूति और राष्ट्रीय समुदाय के विचार के प्रति भावनात्मक निष्ठा भी राष्ट्र की कल्पना में सन्निहित है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने अलगाववाद के भय के कारण सबल केन्द्र की व्यवस्था की जिससे देश की एकता अखण्डता बनी रहे। किन्तु देश में भाषायी विषमतायें उभर कर सामने आयी जिसके कारण राज्य पुर्नगठन अधिनियम 1956 स्थापित

किया गया। इसी प्रादेशिक एवं स्थानीय उद्देश्यों को लेकर क्षेत्रीय दलों का प्रादुर्भाव हुआ जिसके परिणाम स्वरूप देश में दिनों दिन राज्यो का विभाजन बढ़ता गया।

अब इसके बाद हम राजनीति के बारे में समझने का प्रयास करेगें। भारतीय वाग्मय में राजनीति शब्द राज और नीति से मिलकर बना है। जिसका अर्थ राजा द्वारा राज्य के सम्यक् संचालन से है। किन्तु वर्तमान समय में राज का अर्थ राजा से न लेकर शासन से लिया जाता है पाश्चात्य दृष्टि से राजनीति (Politics) शब्द यूनानी भाषा के Polis शब्द से निर्मित है। 500 ई0पू0में जिसका अर्थ नगर या राज्य से था। फिर भी राजनीति शब्द को शास्त्रीय दृष्टि से सुस्थापित करने का कार्य बीसवी सदी के आधुनिक राजवैज्ञानिको ने किया।

1. साल्टाऊ के अनुसार, ''राजनीति उत्तरदायित्व की भावना रखने वाले हर व्यक्ति से सम्बन्धित है।''
2. स्पाइरो के अनुसार ,''राजनीति वह क्रिया है जिसके द्वारा छोटे से छोटे और बड़े से बड़े मानव संगठन अपनी समस्याओं को सुलझाते है।''
3. केटलिन के अनुसार, ''समस्त राजनीति स्वभावतः शक्ति राजनीति है।''
4. डेविस ईस्टन के मत से– ''राजनीति मूल्यों का प्राधिकृत विनिधान है''[2] जबकि राजनीति विज्ञान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम गॉडविन व मेरी बुल्सटोने क्राफ्ट द्वारा किया गया।[3]
5. क्विीसीराइट के अनुसार, ''राजनीति एक ऐसी कला है जिसके द्वारा प्रत्येक समूह दूसरे समूहो पर किसी न किसी तरह नियन्त्रण रखकर हितों को निरन्तर आगे बढ़ाने का प्रयास करता रहता है।''
6. मैक्स वेबर के अनुसार – शक्ति के लिए संघर्ष अथवा उन लोगों को प्रभावित करने की कला जिनके हाथों में सत्ता है।''
7. मार्गेथाऊ कहते है कि राजनीति सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।''
8. वॉस्बी के अनुसार, ''जहाँ समस्या है, वही राजनीति है। जहाँ समस्या नही है वहां राजनीति भी नहीं है।''

राजनीति व्यक्तियो तथा समूहों के बीच संघर्ष की ऐसी प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य जनकल्याण के लिए सार्वजनिक सत्ता का गठन एवं उपयोग है। इसके द्वारा की व्यवस्था का विकास सम्भव है। व्यवस्था वस्तुओ या तत्वों का ऐसा समूह जो विशिष्ट संरचनात्मक सम्बन्धों और निश्चित प्रक्रिया की क्रिया–शीलता से सम्बन्धित है।[4]

राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न तत्वों की सुव्यवस्था है। यह कोई स्वतंत्र ईकाई न होकर समाज व्यवस्था की अनेक उपव्यवस्थाओं में से एक है। इसी के द्वारा नियन्त्रित एवं आदेशित होती है। डेविड ईस्टन ने किसी समाज में पारस्परिक क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था को, जिससे उस समाज में बाध्यकारी या अधिकारपूर्ण नीति–निर्धारण होते है को राजनीतिक

व्यवस्था कहा है।[5] इसी प्रकार आमन्ड पावेल ने राजनीतिक व्यवस्था से उसके अंगो की अन्तः निर्भरता और इसके पर्यावरण में किसी न किसी प्रकार की सीमा–बोध होना माना है।[6] ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को मूल्यों का अधिकारिक वितरण कहा तो वही लासवेल और कैपवेल ने इसे 'गम्भीर वचनो' की संज्ञा दी तथा राबर्ट डहल ने सत्ता को कानून और अधिकारों से जोड़ा है। आमण्ड पावेल ने मैक्स बेबर से सहमति प्रकट करते हुए लिखा है कि वैध शक्ति वह सामान्य धारा है जो राजनीतिक व्यवस्था के कार्यों से प्रवाहित रहती है जो इसे इसका विशिष्ट लक्षण महत्व एवं व्यवस्था के रूप में समांजस्य प्रदान करते है।''[7]

राजनीति व्यवस्था में हर व्यक्ति शक्ति प्राप्त करना चाहता है जिससे वह अपने स्वार्थो की पूर्ति कर सके। वह अपने साधनों, स्थितियों व अवसरों के अनुकूल राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सभी व्यक्तियों को समानता प्राप्त होती है। लेकिन जब राजनीतिक व्यवस्था समर्थन प्राप्त करके जनता में अपना विश्वास बनाये रखने के लिए राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करती है तो विभिन्न प्रकार की माँगे आने लगती है। सभी माँगो को पूरा करना सम्भव नही है। लेकिन जब माँग परस्पर विरोधी एवं अतिवादी हो जाती है तो पूरा करना और भी असम्भव हो जाता है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा चलती रहती है। समाज की विचारधाराएं भी लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य करती है, जिससे समस्त राज्यों के साध्यो की पूर्ति तमाम साधनों के निर्धारण से होती है।

वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत दुनिया का विशालतम् लोकतंत्र है। जहां पर बहुदलीय व्यवस्था विद्यमान होने के कारण राजनीतिक दल आज लोकतन्त्रीय व्यवस्था को संचालन करने वाली महत्वपूर्ण मशीनरी' कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। क्योंकि राजतंत्र जब से अस्ताचल की तरफ चला गया वही से लोकतन्त्र का नया सबेरा प्रारम्भ ही हुआ कि राजनीतिक दलों का अपना बर्चस्व दिनों दिन बढ़ता ही गया। विशेष रूप से संसदीय शासन व्यवस्था में तो राजनीतिक दल जीवन सूत्र के रूप में कार्य करता है।[8] क्योंकि इसके बिना संसदीय निर्वाचन, विकल्पों की तलाश सिद्धान्तों की संगठित अभिव्यक्ति, नीतियों का विकास आदि सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आज हमारा देश दुनिया के मजबूत लोकतांत्रिक देशों में अग्रणी है। यद्यपि ब्रिटेन, अमेरिका यहां तक कि सर्वाधिकारवादी व अधिनायकवादी राज्यों में राजनीतिक दलों का अस्तित्व दिखाई देता है लेकिन अपने परिपक्वता को प्राप्त नहीं कर सका। डच, हुण, फ्रांसीसी, मुगल एवं अंग्रेजो के चंगुल में शदियों से जकड़े रहने के बावजूद निरन्तर संघर्ष के परिणामस्वरूप 15 अगस्त 1947 को हमने एक स्वतंत्र राष्ट्र का स्वरूप प्राप्त किया। यहां तक कि हमारी संस्कृति भी इन लोगो से एक दम छिन्न–भिन्न थी। इसका लगातार ह्यस भी होता रहा लेकिन आज भी उसी रूप में जीवन्त है जिस रूप में हुआ करती थी। राजनीतिक दल ऐसे लोगो का संगठन होता है जो सैद्धान्तिक तथा सामूहिक रूप से एकमत होते है तथा सामूहिक नेतृत्व से चुनाव के माध्यम से सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते है।

राजनीतिक दल मुख्यतः परम्परा, विचारधारा, परस्पर स्वार्थ भावनाएँ मनोवैज्ञानिक कारण आदि के बन्धनों से संगठित रहते है। भारत में स्वतन्त्रता संघर्ष में प्रमुख रूप से कांग्रेस दल ने भूमिका निभाई कांग्रेस का भारत के जनजन तक प्रभाव था तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी इसी राजनीतिक दल का प्रभाव भारत में बना रहा अन्य राजनीतिक दलों का उद्‌भव भी इसी राजनीतिक दल के असन्तुष्ट नेताओं द्वारा किया गया। एक दो दल विचारधारा के आधार पर अस्तित्व में आए। सभी राजनीतिक दलोंके मतदाताओं के कुछ भाग को प्रभावित करते रहे, कांग्रेस के मतदाताओं की संख्या अन्य राजनीतिक दलों के पृथक–पृथक मतदाताओं से कम रही कुछ चुनावों में यह स्पष्ट आंकड़े आए कि कांग्रेस को मिले कुल मत, अन्य दलों को मिले कुल मतों से कम थे, इसलिए कांग्रेस के साथ मतदाताओं का बहुमत भी नही रहा। फिर भी अन्य दलों की संख्यात्मक अधिकता एवं परस्पर मतभेद से कांग्रेस सत्ता में आती रही। जब भी अन्य दल एक होकर चुनाव लड़े तभी कांग्रेस की हार हुई। 1947 से 1976 तक कांग्रेस की केन्द्र में सरकार बनी रही। 1967 में कांग्रेस अनेक राज्यों की विधान सभाओं में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही कर सकी तथा संविद सरकारे बनी। 1977 के लोक सभा चुनाव में प्रथम बार केन्द्र में कांग्रेस की सरकार नहीं बनी विपक्षी दलों के सम्मिलन से बनी जनता पार्टी की सरकार बनी। इस समय कुछ ऐसा आभास होने लगा कि भारत के द्विदलीय पद्धति स्थापित होने जा रही है। लेकिन यह भ्रम शीघ्र ही टूट गया। 1978 में राजनीति के धुर्वीकरण में विखराव एवं विघटन प्रारम्भ हो गया[9] तथा 1979 में यह विखराव स्पष्ट हो गया। जनता पार्टी बिखर कर रह गई। 1980 के आम चुनाव में पुनः कांग्रेस केन्द्र में सत्ता में आ गई। 1984 में भी यह सहयोग अधिक दिन तक नही चल सका, 1991 में पुनः कांग्रेस सत्ता में आई जो 1996 तक रही फिर गठबन्धन सरकारों का युग प्रारम्भ हुआ।[10] प्रत्येक देश में राजनीतिक दल का अपना महत्व होता है। क्योंकि राजनीतिक दल सत्तात्मक शक्ति के लिए संघर्ष है। 2004 के चुनावों में कांग्रेस के नेतृत्व में गठबन्धन सरकार केन्द्र में बन गयी। यद्यपि 145 सीटों पर विजयी होकर वह भाजपा से पीछे थी। राज्यों में भी कांग्रेस की सरकारे पुनः उभरने लगी। यद्यपि उत्तर प्रदेश 1989 के चुनावों से ही कांग्रेस सत्ता में नहीं आयी क्योंकि यहां इसका संगठन दिनोदिन कमजोर होता गया। इसी कारण शोधार्थी ने अपने अध्ययन को 1990 से 2015 तक चुना है।

राजनीतिक दल मुख्यतः परम्परा, विचारधारा ,परस्पर स्वार्थ भावनाएँ मनोवैज्ञानिक कारण आदि के बन्धनों से संगठित रहते है। भारत में स्वतन्त्रता संघर्ष में प्रमुख रूप से कांग्रेस दल ने भूमिका निभाई कांग्रेस का भारत के जनजन तक प्रभाव था तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी इसी राजनीतिक दल का प्रभाव भारत में बना रहा अन्य राजनीतिक दलों का उद्‌भव भी इसी राजनीतिक दल के असन्तुष्ट नेताओं द्वारा किया गया।

वर्तमान समय में शासन के विविध रूपों में प्रजातंत्र सर्वाधिक लोकप्रिय है और प्रजातन्त्रीय शासन दो प्रकार के होते है। 1. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र 2. अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधित्यात्मक प्रजातंत्र। राज्यों की अधिक जनसंख्या और क्षेत्र की विशालता के कारण वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी राज्यो में प्रतिनिधित्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था ही प्रचलित है। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। जनता द्वारा अपने–अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन और प्रतिनिधियों द्वारा शासन व्यवस्था के संचालन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है और राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होते है। साधारणतया एक देश के विधान या कानून के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का उल्लेख नही होता है किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दलों का अस्तित्व भी उतना ही आवश्यक और उपयोगी होता है जितना कि विधान या कानून। प्रजातन्त्रीय शासन के अन्तर्गत केवल शासक दल का ही नहीं वरन् विरोधी दल का भी महत्व होता है। बर्क के शब्दों में कहा जा सकता है कि ''दलीय प्रणाली चाहे पूर्ण रूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिएअपरिहार्य है।'' मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि ''बिना दलीय संगठन के किसी कार्य सिद्धान्त का एक होकर प्रशासन नही हो सकता, किसी भी नीति का क्रमबद्ध विकास नही हो सकता, संसदीय चुनावों की वैधानिक व्यवस्था नही हो सकती और न ऐसी मान्य संस्थाओं की व्यवस्था ही हो सकती है। जिसके द्वारा कोई भी दलशक्ति प्राप्त करता और स्थिर रखता है।'' इसी प्रकार ब्राइस ने लिखा है कि –

''राजनीतिक दल अनिवार्य है और कोई भी बड़ा स्वतन्त्र देश उनके बिना नही रह सकता है। किसी व्यक्ति ने यह नही बताया कि प्रजातन्त्र उनके बिना कैसे चल सकता हैं। ये मतदाताओं के समूह की अराजकता में से व्यवस्था उत्पन्न करते है। यदि दल कुछ बुराईयां उत्पन्न करते है तो वे दुसरी बुराईयों को दूर या कम भी करते है।''

लीकांक के अनुसार,–''प्रजातन्त्रीय सरकार के सिद्धान्त के साथ इसका विरोध होने के स्थान पर यही एक ऐसी चीज है जो प्रजातन्त्रीय सरकार को व्यवहारिक बनाती है। क्योंकि अकेले रहकर व्यक्तियों के लिए शासन करना कठिन है। आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य इस कृत्रिम तथापि आवश्यक यन्त्र के बिना व्यक्तिगत मतों का समूह मात्र बनकर रह जाएगा।'' मानव एक विवेकशील प्राणी है और मानव की इस विवेकशीलता के कारण एक ही प्रकार की समस्याओं के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से विचार किया जाता है। विचार की इस भिन्नता के साथ ही साथ अनेक व्यक्तियों में आधारभूत बातों के सम्बन्ध में विचारों की साम्यता भी पायी जाती है।[11]

वर्तमान परिवेश में राजनीतिक दल एक शक्ति संरचना और राजनीतिक व्यवस्था की एक आधारभूत व्यवस्था बन गये है अनेक लोकतान्त्रिक देशों में दलीय प्रणाली के स्वरूप में

विभिन्नता उन देशों के राजनीतिक इतिहास, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों की देन है। नार्मन का कहना है कि जापान, फिलीपिन्स और इजराइल को छोड़कर एशिया के किसी भी देश में पश्चिमी तरीके से सुसंगत तथा प्रभावशाली लोकतंत्र दल प्रणाली का विकास नहीं हुआ।[12] मैकाइवर के अनुसार– ''जिस राज्य में दलीय प्रणाली नही होती तो वहाँ क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एक मात्र तरीका होता है।'' हरमन फाइनर ने कहा कि दलों के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियों का अनुसरण करने लगेगे जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी और जिससे राजनीतिकयन्त्र ध्वस्त हो जायेगा।

हरमन फाइनर के अनुसार राजनीतिक दल दूरी को पाटने का कार्य भी करते है। क्योंकि राष्ट्र के भौगोलिक क्षेत्र और निर्वाचन क्षेत्र इतने व्यापक और विस्तृत होते है कि निर्वाचक को एक दूसरे के निकट लाना आवश्यक है और राजनीतिक दल इस प्रकार के मध्यस्थ की भूमिका सुचारू रूप से निभा सकते है। इस प्रकार समाज की विविधता को संगठित कर राजनीतिक क्रिया को और उसे उन्मुख करने वाले साधन के रूप में राजनीतिक दल की भूमिका वालों को देखा जा सकता है। विचारों की समानता रखने वाली में व्यक्ति अपनी सामान्य विचारधारा के आधार पर शासन शक्ति प्राप्त करने और अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील रहते है और इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उनके द्वारा जिन संगठनो का निर्माण किया जाता है, उन्हें ही राजनीतिक दल कहा जाता है। एडमण्ड वर्क के अनुसार– ''राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एकमत हो, अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे होते है।''

वोटल के अनुसार, ''राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य अपने मतदान बल के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण करना व अपनी सामान्य नीतियों को क्रियान्वित करना होता है।'' गिलक्राइट के शब्दों में,'' राजनीतिक दल की परिभाषा उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में की जा सकती है जो राजनीतिक रूप से एक विचार के हो और जो एक राजनीतिक ईकाई के रूप में कार्य कर सरकार पर नियन्त्रण करना चाहते हो।''

मैकाइवर के शब्दों में, ''राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा ऐसी नीति के समर्थन के लिए संगठित हुआ हो, जिसे वह वैधानिक साधनो से सरकार का आधार बनाना चाहता हो।'' राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामान्य सिद्धान्तों पर सहमत हो और सामूहिक प्रयत्नों या राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करने के लिए एकता के सूत्र में बँधे हो।[13] यह संगठित स्वायत्त समूह सरकार की नीतियों एवं कर्मचारियों पर अन्ततः नियन्त्रण प्राप्त करने की आशा में चुनावी उम्मीदवारों का नामांकन करते और चुनाव लड़ते है।[14]

प्रजातंत्र के प्रतिनिधित्यात्मक शासन प्रणाली में तो दलों का होना आवश्यक है और संसदात्मक देश के प्रजातंत्र में तो उनकी आवश्यकता कही अत्यधिक महत्वपूर्ण वास्तव में

राजनीतिक दल व्यवस्था किसी प्रजातन्त्रात्मक देशमें रक्त प्रवाह का कार्य करते है। इसलिए प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों का होना अत्यन्त आवश्यक है संसदात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इसलिए यहॉ पर इसकी आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है। ब्रिटेन और अमेरिका में प्रमुख रूप से दो, ही दल रहे है। क्योंकि प्रायः इन्हीं दलों की ही सरकार बनती रही है। यहाँ का राजनीतिक समीकरण इन्हीं दोनों के इर्द गिर्द ही घुमता है फ्रांस में पंचम गणतंत्र के पहले चार गणतन्त्र अस्तित्व में आया और समाप्त भी हो गया इसका कारण यहाँ के 10 से 15 तक के राजनीतिक दल ही रहे है। अतः 1958 में जनरल डी गाल के अथक परिश्रम से पांचवा गणतंत्र स्थापित हुआ। दुनिया के अन्य देशों में भी जहाँ पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली विद्यमान है वहां पर छोटे–छोटे दल अस्तित्व में आते रहते है। मैरिस डुवरजर ने जोरदार समर्थन करते हुए कहा है कि बहुदलीय पद्धति और आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भारतीय राजनीति में पहला बड़ा परिवर्तन 1967 के आम चुनाव में हुआ। यहीं से देश के संविधान में बहुदलीय व्यवस्था का प्रतिमान विद्यमान एवं परिलक्षित होने लगा। यह कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक एकाधिकार का सूरज अस्ताचल की तरफ और क्षेत्रीय दलों के उदय का नया सबेरा ले करके आ रहा था। यही कारण है कि देश के सभी क्षेत्रीय दलों को किसी न किसी राज्य में मिश्रित शासन के मंत्रीमण्डल में एक नवीन अवसर प्राप्त हुआ। केन्द्रीय सरकार को डी0एम0के0 एवं मुस्लिम लीग, पीजेण्ट एण्ड वर्कस पार्टी की सहायता से सरकार बनी। देश के विभिन्न राज्यों में दल–बदल भी प्रारम्भ हुए एवं मन्त्रिमण्डलों का विघटन भी होने लगा जिसके कारण क्षेत्रीय दलों का राजनीति में वर्चस्व स्थापित होने लगा। हमारा देश विविधताओ से भरा राष्ट्र है। यहाँ अनेकता में भी एकता विद्यमान है। विशाल देश होने के कारण अनेक धर्म, जाति, रीति–रिवाज, परम्पराए, प्रथाएं एवं सामाजिक सांस्कृतिक विरासत पायी जाती है। ऐसे देश में जब लोकतंत्र स्थापित होता है तो निश्चित रूप से क्षेत्रीय दलों का गठन होता है। जिसके द्वारा समस्त नागरिको की अभिव्यक्ति एवं क्षेत्रीय समस्या का समाधान, विकास आदि के लिए लगातार सम्पर्क स्थापित करते रहते है। इन दलों का यही क्षेत्रीय संपर्क जमीनी हकीकत से जोड़ता है। जिसका लाभ प्राप्त होना लाजमी है। इसी के कारण क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया और राष्ट्रीय दलों ने इसके लिए अवसर भी प्रदान किए है। हमारे देश का सबसे प्रमुख दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस था लेकिन इसके साथ ही साथ कई दलों ने राष्ट्रीय दलके स्वरूप को प्राप्त किया। इस स्वरूप को यदि नुकसान हुआ तो उसका कारण यही दल ही रहे है। क्योंकि उन्होंने अपने राज्य स्तरीय इकाइयों को समुचित स्थान व महत्व प्रदान नही किया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 सिंह अजय (डॉ०), मल्ल विजयप्रताप (डॉ०), भारतीय राजनीतिक चिन्तन, प्रकाशन अग्रवाल, वर्ष 2014–15, पृ०94–95

2 सिंह आर0के0 (डॉ0), आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, प्रकाशन मिश्रा ट्रेडिंग, वर्ष 2008, पृ0 7–8

3 चौधरी राजीव – राजनीतिक विज्ञान, दिशा नवीन पृ0 4
4 वर्मा एस0पी0 – 'माडर्न' पालिटिकल थियरी ' विकास पब्लिक हाउस, दिल्ली, 1975, पृ0 154
5 ईस्टन, डेविस, ए फ्रेम वर्क फार पॉलिटिकल एनालिसिस न्यूजर्सी, इंग्लीयूण्डक्लीफस प्रेन्टीस हाल, 1965, पृ0 21
6 पावेल आमण्ड एण्ड जी0ए0– कम्परेटिव पालिटिक्स एनालिसिस न्यूजर्सी , इंग्लीयूण्डक्लीफस प्रेन्टीस हा, 1965, p-21
7 वहीं पृ0 107
8 मैकडालल्ड नील०ए०, ''पार्टी पर्सपेक्टीव : कम्पेरेटिव पोलिटिक्स'' (सभ्या०) 1963– पृ. 335
9 प्रतियोगिता दर्पण अतिरिक्तांक 2010 उपकार प्रकाशन पृ०: 145
10 वही पृ० 146
11 न्यूमैन, सिगमण्ड, मार्डन पोलिटिकल पार्टी, शिकागो, यूनीवरसिटी आफ शिकागो, प्रेस 1956
12 पामर, नारमन डी, द इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम, एलेन जार्ज एण्ड आलविन, लन्दन 1965 पृ 182
13 वर्क, एडमण्ड थाट ऑन द केसेज आफ प्रेजेन्ट डिस कान्टेन्ट वर्क, Vol, T., P-530
14 आस्टिन एण्ड से केन्डल विलभोर– डेमोक्रेसी एण्ड द अमेरिकन पार्टी सिस्टम, न्यूयार्क, हाइमोर्ट 1956, P-85

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म, जीव, माया, जगत तथा मोक्ष का स्वरूप

अरुण कुमार मिश्र

शोधच्छात्र
संस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

कभी स्वर्ण–शरीर अगणित नक्षत्रों से परिपूर्ण, कभी शोभातिशायी जन–मन–मोहक हिमकर से समलंकृत, कभी भगवान भुवन भाष्कर की प्रचण्ड एवं प्रखर किरणों से सम्पन्न तथा कभी निरभ्र तो कभी विविध वर्णों के मेघों से प्रतिभासित नील व्योम मण्डल, एक ही क्रम में आती हुई ऋतुएं, सायं–प्रातः तथा रात्रि–दिन का अपरिवर्तनीय क्रम, स्थूलतम जीवों से लेकर सूक्ष्मतम नेत्रेन्द्रिय विषय–गोचर जीवों की सृष्टि, सृष्टि में भी मानव, हिरण, मयूर इत्यादिक जीवों के माध्यम से अभिव्यक्त होता हुआ वैचित्र्य, प्रकृति के वैभव का साकार स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए असंख्य प्रशान्त सागर, कल–कल ध्वनि से प्रवाहित होती अनेकों नदियाँ, नाना प्रकार के वृक्ष, पर्वत एवं इन सबसे परिपूर्ण अनेक देशों में विभक्त यह विशाल अवनि मण्डल जन्म लेते ही मनुष्य को उस आश्चर्य शिला पर समासीन कर देता है,[1] जहाँ पर उसका मस्तिष्क इस रहस्याकुल जगत् के रहस्य को सुलझाने के लिये विवश हो जाता है।[2] यहीं से दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ। भारतीय दर्शन को दो भागों में बाँटा गया है आस्तिक एवं नास्तिक। वेद को मानने वाले दर्शन को आस्तिक न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं। आस्तिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन उसमें भी भगवान शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त प्रमुख है। भारतीय दर्शन का उद्देश्य मोक्ष के द्वारा दुःख त्रय की निवृत्ति कराना है।

अद्वैत वेदान्त में जीव–ब्रह्म ऐक्य द्वारा मोक्ष को प्राप्त करना बताया गया है। अद्वैत–वेदान्त में मोक्ष उस नित्य पदार्थ को माना गया है जिसके अधिगम से मनुष्य की पुनरावृत्ति नहीं होती। अद्वैत वेदान्त को समझने के लिये निम्न तथ्यों की आवश्यकता होती है।

1– ब्रह्म।
2– जीव।
3– माया।
4– जगत्।
5– मोक्ष।

1– ब्रह्म

अद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्य तत्त्व ब्रह्म है जिसे अशनादि रहित, ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्णभेद विगत, असंसारी एकमात्र वेदान्त समधिगम्य बताया गया है।[3] यह नित्य, सर्वज्ञ, सर्वगत, नित्यतृप्त, नित्य, शुद्ध–बुद्ध, मुक्तस्वभाव, चैतन्य और आनन्द स्वरूप है।[4] अखण्ड, सत्, चित्, आनन्द, मन और वाणी का विषय न बनने वाले, तथा समस्त जगत् के अधिष्ठानरूप आत्मतत्त्व का अभीष्ट की प्राप्ति के लिये आश्रय ग्रहण करता है।[5] अस्थूलमनण्वम् (बृ0उ0 2–4–12) यह श्रुति वाक्य ब्रह्म का स्वरूप अभाव मुखेन प्रतिपादित करते हैं।

प्रभु सबसे पहले जीव की कल्पना करता है, फिर तरह–तरह के बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना करता है। उस जीव का जैसा विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है। आत्मा आकाश के समान है, वह घटाकाशों के समान जीवरूप से उत्पन्न हुआ है। तथा मृत्तिका से घटादि के समान देह संघात रूप से भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है। इस प्रकार वह चैतन्य ही जीव रूप में भासित होता है।

इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय जिससे होते हैं वह ब्रह्म है।[6] जो नाम रूप से अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता और भोक्ताओं से संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्त से क्रिया और फल का आश्रय है, एवं मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ शक्तिमान कारण से होती है; वह ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि शास्त्र का प्रमाण होने से सर्वज्ञ है।[7] वह आत्मतत्त्व चलता है, वह नहीं चलता है। वह दूर है समीप भी है। वह इस सबके अन्तर्गत है, वह ही इस सबके बाहर भी है।[8] ब्रह्म सर्वव्यापक है। वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, शिराओं से रहित, निर्मल, पापों से रहित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ है।[9] इस प्रकार ब्रह्म अखण्ड, अज, सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्तस्वरूप है।

माया

ब्रह्म अपनी माया से इस जगत् की सृष्टि या रचना करता है। अविद्या, मिथ्या, भ्रम ये सब माया के पर्याय हैं। स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट का अन्य में (अधिष्ठान में) अवभास (प्रतीति) वही अध्यास है।[10] स्मर्यमाण के सदृश पूर्वानुभूत की अन्य में प्रतीति अध्यासभास है। जैसे शुक्तिरूप अधिष्ठान में अज्ञान से कल्पित होने के कारण रजत अध्यस्त है। अविद्या न सत् है न असत्। यदि सत् होती तो सदा सर्वत्र होती किन्तु भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञान से इसकी निवृत्ति हो जाती है। अविद्या असत् भी नहीं है क्यों ऐसा होने पर वह नामरूपात्मक प्रपञ्च के पदार्थ–सार्थ की अवभासिका न हो पाती। अहमज्ञः इत्याकारक अनुभव गोचर अविज्ञा को असत् नहीं कर सकते। अतः सत्, असत् विलक्षण होने के कारण माया अनिवर्चनीय है।[11] शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्थान–स्थान पर अविद्या का अनादि, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मिका, भावरूपा[12] तथा नैसर्गिकी[13] आदि शब्दों से वर्णन किया है। इस अविद्यात्मिका बीजशक्ति का आश्रय परमेश्वर है।[14]

यद्यपि शांकर ग्रन्थों में अविद्या बहुशः परमेश्वराश्रित तथा परमेश्वर की शक्ति–रूप में वर्णित की गयी है तथापि यह आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप स्वीकृत नहीं हो सकती। यदि इसे आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप में स्वीकार किया जाय तो इसकी उच्छित्ति कदापि सम्भव नही है। जैसे सविता का स्वाभाविक औष्ण एवं प्रकाश किसी भी उपाय से नहीं निवृत्त किया जा सकता।[15]

यद्यपि परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने माया तथा अविद्या इन दोनों में अन्तर किया है परन्तु आचार्य शंकर ने अविद्या, माया अज्ञान में कोई अन्तर नहीं किया है।

जीव

अन्तःकरण रूप उपाधि में चैतन्य सन्निधि के कारण अन्तःकरण स्वरूप से उत्पन्न चिदाभास जीवत्त्व व्यवहार का प्रयोजक है। दूसरे शब्दों में जीवत्त्व की प्रवृत्ति का निमित्त है। इस अन्तःकरणोपाध्यन्तः प्रविष्ट चिदाभास से अन्वित अर्थात् चिदाभासाविविक्तया अन्तःकरणपाध्यनुगत चित्प्रतिबिम्ब जीव पद वाच्य है। अज्ञान और आभास दोनो से अनन्वित शुद्ध चैतन्य बिम्ब है। इस जीव को बिम्ब का लक्ष्यार्थ कहा जाता है।[16] आत्मा उत्पन्न नहीं होता क्यों कि उसकी उत्पत्ति विषयक श्रुति नहीं होती है। जीव का नित्यत्त्व तथा अजत्त्व, अविकारित्त्व अविकृत ब्रह्म का ही जीवरूप से और ब्रह्मरूप से अवस्थान श्रुतियों से अवगत होता है।[17] न जीवो म्रियते, (जीव मरता नहीं)[18] यद्यपि चिदात्मा वस्तुकर्ता या भोक्ता नही है, प्रत्युत नित्य आनन्दरूप अपरिच्छिन्न और निष्क्रिय है तथापि विज्ञानमय कोश का अभिमानी बनने पर वह इहलोक और परलोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव बन जाता है। उसके लोक और परलोक गमन करने का कारण कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व है। सूक्ष्मशरीर तीन कोश विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश से बनता है। चिदात्मा चिदाभास के रूप में जीव से उक्त है।[19]

वह प्रभु सबसे पहले जीव की कल्पना करता है, फिर तरह–तरह के बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना करता है। उस जीव का जैसा विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है। आत्मा आकाश के समान है, वह घटाकाशों के समान जीवरूप से उत्पन्न हुआ है। तथा मृत्तिका से घटादि के समान देह संघात रूप से भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है।[20] इस प्रकार वह चैतन्य ही जीव रूप में भासित होता है।

जगत्

नामरूपों से व्याकृत, अनेक कर्ता तथा भोक्ता से संयुक्त, प्रतिनियत देशोत्पादक, प्रतिनियत कालोत्पादक, प्रतिनियत क्रिया तथा प्रतिनियत फल वाले पदार्थों के आश्रयभूत जगत्[21] को आचार्य शंकर ने बाह्य तथा आध्यात्मिक इन दो रूपों में विभक्त किया है।[22]

1– बाह्य जगत– नानाविध, शुभ, अशुभ तथा व्यामिश्र कर्मों के सुख–दुःख रूप फलों के साधन पृथिव्यादि लोक बाह्य जगत हैं।

2– आध्यात्मिक जगत्– देव, तिर्यक, मनुष्यत्वादि, प्रकारक नानाविध जातियों से अन्वित, प्रतिनियत (असाधारण) अवयवों की संघटना वाले उक्त नानाविधकर्मों के सुख, दुःखात्मक फलों के अधिष्ठानभूत दृश्यमान शरीरादि आध्यात्मिक जगत् हैं। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त उभयविध जगत् परस्पर भिन्न नहीं प्रत्युत परस्पर सम्बन्धित है। बाह्य जगत् भोग का साधान है तथा आध्यात्मिक जगत् भोग का आयतन।

आचार्य शंकर ने कहा है कि जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव तथा शरीर से अधिक विशिष्ट ब्रह्म है; वही जगत का स्रष्टा है।[23] ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है।[24]

परमार्थतः कार्यकारणातीत निष्प्रपञ्च ब्रह्म से प्रपञ्चप्रभव सम्भव नहीं है। इसलिये अविद्या प्रभूत जगत् तथा तत्सम्बद्ध वस्तु व्रात इन दोनों का आचार्य शंकर ने स्वप्नसम, क्षणिक, दृष्टनष्टस्वभाव, असार, अशुद्ध अनित्यादिरूप वाले मानते हैं।[25] जो आदि और अन्त में नहीं है (अर्थात् आदि और अन्त में असत् रूप है) वह वर्तमान में भी वैसा ही है। ये पदार्थ–समूह असत् के समान होकर भी सत् जैसे दिखायी देते हैं।[26]

मोक्ष

अविद्या–व्युच्छित्तिसमनन्तर जीव स्वात्मावस्थित हो जाता है।[27] जीव के इस स्वरूपावस्थान को मोक्ष कहा गया है। कुटस्थरूप तथा स्वतः सिद्ध होने के कारण मोक्ष अनारम्भ है।[28] नित्य, उत्पत्ति आदि विरूद्ध तथा विकार प्रतिषिद्ध होने के कारण मोक्ष स्वरूप न तो उत्पाद्य है और न विकार्य है। असाधन होने के कारण ब्रीहि पात्रादि के सामान संस्कार्य भी नहीं तथा प्रत्यङ्मात्र स्वभाव होने कारण आप्य नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि मोक्ष उत्पत्ति, आप्ति, संस्कृति एवं विकृति इन चारों प्रकार के कर्मफलों से विलक्षण है।[29] मोक्ष वह धन है जिसका न तो आदि है, न अन्त, न मध्य और न भोग से क्षयशील है[30] इन मोक्षस्वरूपनिश्यचयात्मक वार्तिकों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मोक्ष ब्रह्म ही है।[31]

जिस अवस्था में इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण नहीं करती तथा मन भी स्थिरता को प्राप्त कर लेता है और यह लोक विषयिणी बुद्धि भी ज्ञान का काम नहीं देती किन्तु केवल आत्मा स्वसामर्थ्य ही उस अवस्था में अवशिष्ट रह जाता है। मननशील ज्ञानी पुरूष इसी अवस्था को मुक्ति अवस्था कहते हैं।[32] मोक्ष आत्मस्वरूप है। यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है न तो मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन, और पुरातन है।[33] ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।[34]
इस प्रकार मोक्ष ब्रह्मस्वरूप है।

इस प्रकार उपर्युक्त तत्त्वों को समझने के बाद अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। अद्वैत वेदान्त में इन्हीं तत्त्वों को समझाया गया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1– अद्वैत वेदान्त में आभासवाद। पृष्ठ– 16
2– ब्र0 शा0 भा0 उपो0, पृ0 23
3– ब्र0 शा0 भा0 उपो0,1–1–4 पृ0 69
4– वेदा0– मं0– 1
5– ब्र0सु0– 2–2 पृ0 34
6– ब्र0सु0– 3–3 पृ0– 43
7– ई0–उ0– 5 पृ0 58
8– ई0–उ0– 8– पृ0 73
9– ब्र0सु0– पृ0 13
10– विवेक चूडामणि– 111
11– विवेक चूडामणि–110
12– ब्र0सु0 शा0भा0– 3–2–15 पृ0– 643
13– ब्र0सु0 शा0भा0– 1–4–3– पृ0 297
14– बृ0उ0–शा0भा0– 4–3–20 पृ0 556
15– अद्वैत वेदान्त में आभासवाद– पृ0 191
16– ब्र0सु0 शा0भा0– 2–3–17– पृ0 496
17– छा0 उ0– 6–11–3
18– वेदान्तसार– खण्ड 20 पृ0– 69
19– माण्डूक्य0– वै0– 16 पृ0 96
20– ब्र0सु0 शा0भा0– 1–1–2 पृ0 48
21– ब्र0सु0 शा0भा0– 2–1–1 पृ0 415
22– ब्र0सु0 शा0भा0– 2–1–22 पृ0 694
23– ब्र0सु0 शा0भा0–1–4–23 पृ0 339
24– उपदेश साहस्त्री– 2–17–20
25– मा0उ0– वैतथ्य– 6–पृ0 87
26– तै0 उ0– 33 पृ0– 11
27– वृ0उ0 भा0वा0– 3
28– वृ0उ0 भा0वा0 अ0– 3
29– सम्बन्ध वा0– पृ0– 300
30– अ0 आ0 वा9– 167
31– कठो0उ0– 2–3–10
32– गीता 2–20
33– बृ0उ0– 7–2–16

स्वामीविद्यारण्य का परिचय

डा0 प्रभात कुमार त्रिपाठी
संस्कृत–विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

स्वामीविद्यारण्य अद्वैत वेदान्त के शंकराद्वैत धारा के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले आचार्य है। विवरण प्रस्थान में आचार्य विद्यारण्य का वही स्थान है। जैसा अद्वैत वेदान्त में आचार्य शंकर का है। क्यों कि जिस प्रकार आचार्य शंकर ने वादरायण के ब्रह्मसूत्रों के रहस्यों का उद्घाटन किया उसी प्रकार स्वामी विद्यारण्य ने भी विवरण प्रस्थान के 'विवरण' ग्रन्थ पर अपना भाष्य या टीका 'विवरण प्रमेय संग्रह' नामक अद्वितीय ग्रन्थ लिखकर विवरण प्रस्थान में अपना नाम अमर करा दिया।

आचार्य विद्यारण्य स्वामी का जन्म 13वीं सताब्दी के दक्षिण भारत के शालिवाहन नामक स्थान पर हुआ। आचार्य विद्यारण्य के जन्म की निश्चित तिथि के विषय में विद्वत परिषद् एवम् इतिहासकारों के बीच में बड़ा मतभेद है। किन्तु दक्षिण भारतीय राज्य विजय नगर की स्थापना हरिहर एवं बुक्का नामक दो भाइयों ने सन् 1336 ई0 में स्वामी विद्यारण्य की सहायता से ही किया अतः ये स्पष्ट है। कि इसी 1336 के पूर्व ही स्वामी जी का जन्म हो चुका था।[1]

आचार्य विद्यारण्य स्वयम् को दक्षिण भारत के भारद्वाजीय ब्राह्मण गोत्रोत्पन्न मानते हैं। और अपनी शाखा को यजुर्वेदीय बौद्धायन सूत्र शाखा बताते हैं।[2] स्वामी विद्यारण्य के कुल का नाम 'सायण' प्राप्त होता है। स्वामी विद्यारण्य के पिता का नाम श्रीमायण एवम् माता का नाम श्रीमती था।[3]

स्वामी विद्यारण्य जी के दो प्रसिद्ध एवम् परम् विद्वान भ्राता सायण एवम् भोगनाथ थे।[4] ये वही जगत् विश्रुत सायणाचार्य हैं जिन्होंने वेदों पर भाष्य ग्रन्थ का प्रणयन किया। स्वामी जी के ग्रन्थों के अनुशीलन से बोध होता है कि स्वामी जी के पूर्वाश्रम का नाम माधव या माधवाचार्य था। प्रायः लोग इन्हे माधव मन्त्री के नाम से जाना करते थे। सम्भवतः स्वामी विद्यारण्य ने माधव के नाम से ही विजयनगर राज्य की स्थापना में योगदान दिया था। आगे चलकर स्वामी जी ने अपने जीवन के चतुर्थ आश्रम में अपना नाम विद्यारण्य रख लिया। फिर विद्यारण्य के नाम से ही अपनी महनीय कीर्ति को धर्म, दर्शन, राजनीति एवम् ज्ञान के क्षेत्र में फैलानी प्रारम्भ की जो अनायास एवम् स्वयम् प्रकाश की भॉति दक्षिण से उत्तर एवम् पूर्व से पश्चिम दिशाओं तक को प्रकाशित करने लगी। जिस प्रकार स्वामी विद्यारण्य के दो नाम दृष्टिगोचर होते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वामी जी के दो गुरू भी अपने ज्ञान की धारा के द्वारा

आचार्य को आप्लावित करते हैं। स्वामीजी के प्रारम्भिक गुरू का नाम सर्वज्ञविष्णु रहा किन्तु जब स्वामीजी ने सन्यास ग्रहण किया तो उस समय परिब्राजक बनाने वाले गुरू का नाम 'भारतीयतीर्थ' रहा।

पञ्चदशी के रचयिता श्री विद्यारण्य मुनि अत्यन्त त्यागी एवम् मेधा सम्पन्न तथा परिणतप्रज्ञ आचार्य थे। स्वामी विद्यारण्य का प्रारम्भिक जीवन उतार चढ़ाव पूर्ण रहा।

स्वामी विद्यामाधव जी राजनीति विशारद भी थे, राजनीति के चतुर खिलाड़ी, कर्तव्यदक्ष एवम् परमैश्वर्य सम्पन्न स्वामी जी ने दक्षिण भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना का निर्णय किया और अपने इस दृढ़निश्चय को साकार रूप देने के लिए स्वामीजी ने हरिहर एवम् बुक्का नामक दो भाइयों को प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप इन दोनों भाइयों की सहायता करके दक्षिण भारत का एक सशक्त, शक्तिशाली विजयनगर की स्थापना किया और उसके सिंहासन पर हरिहर को आसीन कराकर स्वयम् दीर्घकाल तक हरिहर एवम् बुक्का के राज्य के मन्त्री के पद को अलंकृत किया। विजयनगर ने स्वामीजी के मन्त्रित्व काल में तत्कालीन अनेक राजाओं को परास्त किया और उन्हे अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। उपर्युक्त समस्त कार्यों की सफलता के केन्द्र विन्दु स्वामी विद्यारण्य मुनि ही हुआ करते थे।[5]

वे राजनीति विशारद भी थे, राजनीति के चतुर खिलाड़ी, कर्तव्यदक्ष एवम् परमैश्वर्य सम्पन्न स्वामी जी ने दक्षिण भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना का निर्णय किया और अपने इस दृढ़निश्चय को साकार रूप देने के लिए स्वामीजी ने हरिहर एवम् बुक्का नामक दो भाइयों को प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप इन दोनों भाइयों की सहायता करके दक्षिण भारत का एक सशक्त, शक्तिशाली विजयनगर की स्थापना किया और उसके सिंहासन पर हरिहर को आसीन कराकर स्वयम् दीर्घकाल तक हरिहर एवम् बुक्का के राज्य के मन्त्री के पद को अलंकृत किया।

स्वामी विद्यारण्य राज्य कार्य मे व्यस्त रहने पर भी राजनीति एवम् राजनैतिक जीवन से समय निकालकर उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करके वेद शास्त्रों की प्रतिष्ठा को बढ़ाया और फिर धीरे–धीरे पूर्णतः विरक्त पुरुष होकर जीवन मुक्ति को प्राप्त हुए। स्वामीजी को जब जीवित रहते परमतत्त्व का अनुभव होने लगा और स्वयम् को सच्चिदानन्दघनस्वरुपआनन्दस्वरुप ब्रह्म में तदाकाराकारित समझने लगे तब विद्यारण्यमुनि के नाम से 'श्रृंगेरीमठ' के शंकराचार्य के पीठ पर आसीन हुए।

स्वामी विद्यारण्य का कुटुम्ब ज्ञान एवम् धर्म के क्षेत्र में बहुत अग्रगण्य था या यूँ समझिये कि अग्रगण्यता की इयत्ता थी। जिसके प्रमाण स्वामीजी एवम् स्वामी के भ्राता द्वौ भोगनाथ एवम् सायण हैं।

स्वामीजी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके जंगल के एकान्त में घोर तपस्या में लीन हो गये उसी तपस्या के काल में ही स्वामी जी को हरिहर एवम् बुक्का मिले जिनको

स्वामी जी ने एक अत्यन्तावश्यक दक्षिण भारत में विजयनगर राज्य स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। इस बीच यद्यपि कि स्वामी जी का जीवन उथल–पुथल से भरा रहा किन्तु स्वामीजी एक निश्चल कर्मयोगी की भॉति राज्य स्थापाना एवम् धर्म रक्षण के कार्य को करके आर्य संस्कृति को जीवित रखा वे जिस मनोभाव से अपना निष्काम कर्म करते थे उसका प्रमाण साक्षात् उनके ग्रन्थ की निम्न पंक्तियाँ हैं– ''ज्ञानिनाचरितुंशक्य सम्यग्राज्यादि लौकिक''।[6] अर्थात् ज्ञानी पुरुष राज्यादि लौकिक कार्यों को अच्छी तरह से चला सकते हैं। ज्ञानी का ज्ञान यदि परिष्कृत हो, तो राज्य के गहन करवां भी दबा नहीं सकते।

श्रीमाधवमन्त्री अपने अद्वितीय गुरु भारतीयतीर्थ के शिष्यत्व में वेद, उपनिषद्, पुराण, कामशास्त्र, मीमांसा, व्याकरण एवम् राजनीतिशास्त्र की शिक्षा ग्रहण कर महान शास्त्रार्थकार तथा राजनीति के ममर्ज्ञ बन गये।

स्वामीजी जीवन के अन्तिम क्षण में भारतीय संस्कृति के अनुसार चार आश्रमों का पालन करते हुए संन्यास आश्रम में वैराग्य जीवन बिताया। अन्त में चौदहवीं शताब्दी में स्वामीविद्यारण्य मुनि का नश्वर देह पञ्चतत्त्व में विलीन हो गया और स्वामाजी की आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गयी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1– प्राचीन दक्षिण भारत का इतिहास– वी0सी0 पाण्डेय पृष्ठ– 82

2– बौद्धायन यस्य सूत्र, शाखा यस्य च याजुषी– पराशरमाधव/ 'विवरणप्रमेयसंग्रह' भूमिका– पृष्ठ– 3 ददनउपाध्याय

3– श्रीमती जननी यस्य सुकीर्ति मायणः पिता– पराशरमाधव/ 'विवरणप्रमेयसंग्रह' ददनउपाध्याय– भूमिका पृष्ठ– 3

4– सायणो भोगनाथश्च मनोवुद्धि सहोदरौ– पराशरमाधव/'विवरणप्रमेयसंग्रह' ददनउपाध्याय– भूमिका पृष्ठ– 3

5– प्राचीन भारत का इतिहास– झा और माली– पृष्ठ– 133

6– 'विवरणप्रमेयसंग्रह' ददनउपाध्याय– भूमिका पृष्ठ– 3

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त संभारों का महत्त्व

डॉ0 मनोज कुमार अग्रहरि

(प्रवक्ता)
जय नारायण चमेला देवी महाविद्यालय
करछना, इलाहाबाद

वेद–सम्मत यज्ञानुष्ठान में देवयजन के लिए यज्ञ–भूमि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार भूमि के ऊपरी भाग को खनन कार्य द्वारा हटा लेना चाहिए। ताकि थूक, आदि से अपवित्र भू–भाग खनन द्वारा हट जाये। उस समय 'उद्धन्यमानम्' इस मन्त्र का जाप किया जाता है।[1] ऐसी मान्यता है कि खनन कार्य से भूमि को कुछ वेदना सहनी पड़ती है; अतः उसे शान्त करने के लिए शांति के प्रतीक जल का प्रयोग करते हुए ''आपो वै शान्ताः'' नामक मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।[2]

तत्पश्चात् यज्ञ भूमि में अर्थात् देवयजन भूमि में संभारों का प्रक्षेप करना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, ''सिकतादयो द्रव्यविशेष देवयजन भूमौ प्रक्षेपणीयाः संभाराः''।[3] अर्थात् सिकता (बालू), आदि द्रव्य विशेष, जो देवयजन भूमि पर प्रक्षेपित किया जाता है, संभार कहलाता है। इसके अंतर्गत पार्थिव और वनस्पति संभारों का उल्लेख प्राप्त होता है जो इस प्रकार हैः

(क) पार्थिव संभारः–

सिकता (बालू):– यह देवयजन भूमि में प्रक्षेपित किये जाने वाले पार्थिव संभारों में पहला संभार है। यह वैश्वानर का रूप अर्थात् दिव्य ज्योति कहा गया है– ''वैश्वानरस्य रूपम्''[4]। इसलिए यज्ञभूमि को दिव्यमय बनाने के लिए 'सिकता' भूमि में प्रक्षेप करना चाहिए।

ऊषर भूमिः– यज्ञभूमि में निवपन करने वाले संभारों में ऊषर भूमि दूसरा संभार है। पशु आदि ऊषर क्षेत्र अर्थात् लवणयुक्त भूमि, जो पृथ्वी का एक भाग है, में उत्पन्न रसादि से युक्त तृणों को खाकर पुष्ट सन्तति उत्पन्न करते हैं। इसलिए अग्नि के आधान के लिए ऊषर–भूमि की आवश्यकता होती है। क्योंकि यह यजमान को हृष्ट–पुष्ट करता है और प्रजनन शक्ति प्रदान करता है। यह क्षेत्र पशु संज्ञा वाला होता है, क्योंकि पशु ही सूँघकर उस क्षेत्र को पहचान सकते हैं कि वह भूमि ऊषर है या नहीं। इसलिए ऊषर भूमि की मिट्टी अग्न्याधान के स्थान पर निवपन करना चाहिए।

इस निवपन के समय ध्यान विशेष को कहते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि[5], सृष्टिकाल में द्युलोक और पृथ्वी लोक के बीच में अन्तरिक्ष नहीं था। इसलिए प्राणियों को अवकाश (खाली जगह) के लिए देवताओं की अनुज्ञा से उन्हें परस्पर अलग होना पड़ा।

वियोग के समय स्नेहातिशय से वे इस प्रकार बोले कि हम दोनों (देव और मनुष्य) यज्ञ के योग्य, जो भूमि का सार तत्व है, वहाँ यानि उस भूमि में एक साथ रहेंगे। इस प्रकार द्युलोक का सार–भूत जो यज्ञीय भाग है, वह पृथ्वी में ऊषर भूमि के रूप में प्रतिष्ठित है और पृथ्वी का जो यज्ञगत् सारभूमि है, वह द्युलोक में चन्द्रमा के रूप में काला–काला दिखता है। इसलिए भूमि के सार तत्व ऊषर के निवपन काल में उसके कृष्ण रूप का ध्यान करना चाहिए। उसी प्रकार द्युलोक से सम्बन्धित ऊषर भूमि में अन्याधान होता है, ''द्यावापृथिवी सहाऽऽस्ताम्। ते वियती अब्रूताम। अस्त्वेव नौ सह यज्ञियमिति। यदमुष्या यज्ञियमासीत्। तदस्यामदधात्। त ऊषा अश्रवन्। यदस्या यज्ञीयमासीत्। तदमुष्यामदधात्। तददचन्द्रमसि कृष्णम्। ऊषान्निवपन्नदोध्यायेत्। द्यावापृथित्योरेव यज्ञियेऽग्निमाधत्ते, इति।''

ऊषर क्षेत्र अर्थात् लवणयुक्त भूमि, जो पृथ्वी का एक भाग है, में उत्पन्न रसादि से युक्त तृणों को खाकर पुष्ट सन्तति उत्पन्न करते हैं। इसलिए अग्नि के आधान के लिए ऊषर–भूमि की आवश्यकता होती है। क्योंकि यह यजमान को हृष्ट–पुष्ट करता है और प्रजनन शक्ति प्रदान करता है।

आखुकरीष भूमिः– अग्नि कभी किसी कारणवश देवताओं से रूठ कर अपने को मूषक के रूप में करके भूमि के अन्दर बिल बनाकर उसके अन्दर विलीन हो गये। उस भूमि को कुरेदकर जो बिल बनाया गया था, उसी मिट्टी को 'आखुकरीष' कहा जाता है। उस मिट्टी में अग्नि का तेज रहता है। जो यजमान इस संभार का प्रयोग करता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है, ''अग्निर्देवेभ्यो निलायत। आखूरूपं कृत्वा। स पृथिवीं प्राविशत्। स ऊतीः कुर्वाणः पृथिवीमनुसमचरत्। तदाखुकरीषमश्रवत्। यदाखुकरीष संभारो भवति। यदेवास्य तत्र न्यक्तम्। तदेवावरून्द्धे, इति।''[6]

ऊर्क द्वारा निर्मित भूमिः– 'ऊर्क' शब्द का अर्थ है– पिपीलिका के समान वह जन्तु (कीट) विशेष, जो भूमि को कुरेदकर उसके गीले भाग को ऊपर उठा देते हैं, उन्हें ''ऊर्क' कहते हैं– **''उपदीकाः पिपीलिकासमाना आर्द्रीकृतमुत्तिकोपचयक्षमा जन्तवस्ते हि पृथिव्याः संबन्धिनभूर्क्शब्दाभिधेयम्''।**[7] इस प्रकार ऊर्क द्वारा उठायी गयी मिट्टी को चतुर्थ संभार के रूप में अपनाया गया है। इसमें पृथ्वी का सम्पूर्ण सार–तत्त्व विद्यमान रहता है। इसके प्रयोग से यजमान श्रोत्रेन्द्रिय में सामर्थ्य प्राप्त करता है; क्योंकि कहा जाता है कि वाल्मीकों का सुनने का कारण पृथिवी हैं– ''वल्मीकस्य पृथिवीश्रोत्रत्वात्''।[8] इसकी प्रशंसा में कहा गया है– 'अबधिरो भवति। य एवं वेद', इति।

कर्दभ (कीचड़ भूमि):– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्राचीन काल में कभी प्रजापति द्वारा सृष्ट प्रजाओं के लिए जो अन्न था, वह क्षीण (कम) हो गया। तब प्रजाओं के लिए अशोष्य–जल प्रदेश से (जहाँ हर समय पानी ही पानी है, वहाँ से) कर्दभ (कीचड़) उठाकर पृथिवी के अलग–अलग भागों में फैला दिया गया। तब से वहाँ सत्य रूप से अक्षीयमाण रूप में प्रजाओं का अन्न उत्पन्न होने लगा। इसी कर्दभ को पंचम् संसार के रूप में अग्न्याधान क्षेत्र में स्थापित किया जाता है। इससे यजमान का घर सदैव अन्य से अक्षय रहता है।

शर्करा :– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के आदि में, यह जो दृश्यमान गिरि, नदी, समुद्र आदि स्थावर और मनुष्य आदि जो जंगम प्राणि आदि हैं, नहीं थे। यह सृष्टि केवल सलिल रूप में ही था। 'सलिल' शब्द 'षल् गतौ' औणादिक 'इलच्' प्रत्यय से बना है।[9] यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् सलिल कारण के द्वारा अलग–अलग नहीं किया गया था। जैसा कि कहा जाता है कि यह लोक ही सलिल है– ''इमें वै लोकाः सरिरम्''[10]। इस प्रकार सलिल शब्द से मुख्यतः लोक ही सूचित होता है। यह सृष्टि जलरूप ही था, उसका भूमि स्वरूप नहीं हुआ था। तब प्रजापति ने उस जल से जगत के लिए श्रम किया। चारों ओर चक्षु–निक्षेप युक्त तप किया। यह समस्त जगत् किस प्रकार होगा, यह विचार किया और तभी उस सलिल के बीच में दीर्घनाल के अग्रभाग में एक पद्म–पत्र अवस्थित देखा। उसको देखकर यह मन में विचार आया कि जिसको आधार मानकर यह नालयुक्त पद्म–पत्र अवस्थित है। वह वस्तु निश्चित रूप से जल के नीचे है; ऐसा सोचकर वराह बनकर उसी का रूप धारण कर पद्म–पत्र नाल के समीप जल के अन्दर निमग्न हुए। जल के नीचे जाकर वह भूमि प्राप्त किया, जिसे आधार बनाकर पद्म–पत्र दिखाई दे रहा था। उस भूमि से कुछ गीली मिट्टी को अलग–अलग करके जल के ऊपर ले आये और उस मृद्रुप को पद्म–पत्र में प्रसारित कर दिया। चूँकि इस मृत्तिका को फैलाया गया था; इसलिए उसका नाम पृथिवी हुआ। उसी से सन्तुष्ट यह स्थावर जंगम का आधारभूत वस्तु को पृथिवी कहते हैं। चूँकि वह हुआ था, 'भवतीति भूमिः',[11] इसलिए भूमि को भूमि कहते हैं। उस आर्द्र (गीली) भूमि के जल को सुखाने के लिए चारों दिशाओं में प्रजापति ने वायु को प्रवर्तित किया। उस आर्द्र–भूमि को सुखाते हुए प्रजापति ने उस भूमि में 'शर्कर' खण्डों (क्षुद्र पाषाण) को दृढ़ किया। जिसके द्वारा प्रजापति ने हमें सुख प्रदान किया, इसलिए 'शं सुखं कृतमाभिः'[12] इस व्युत्पत्ति से 'शर्करा' नाम सम्पन्न हुआ। इसी 'शर्करा' नामक संभार को छठवें संभार के रूप में देवयजन भूमि में प्रयोग किया जाता है, क्योंकि शर्करा द्वारा भूमि को दृढ़ किया गया था, इसलिए यज्ञभूमि को दृढ़ करने के लिए 'शर्करा' को भूमि में प्रक्षेप करना चाहिए, जिससे कि यजमान का सुख और शांति प्रतिष्ठित हो सकें।

रेत (हिरण्य):– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, किसी समय अप् देवता वरूण की भार्या कामुक होकर अग्नि से सम्भोग किया था। अग्नि की व्यग्रता से उसका रेत भूमि पर गिर गया और हिरण्य बन गया। इसी हिरण्य को सप्तम् संभार के रूप में यज्ञ भूमि में अपनाया गया है, जिससे यजमान अत्यन्त कीर्तिवान और समृद्धिवान होता है।

(ख) वनस्पति संभारः–

अश्वस्थ वृक्षः– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार किसी समय अग्नि देवताओं को छोड़कर दूर भाग गये और अश्व का रूप धारण कर 'अश्वस्थ वृक्ष' में छिपकर बैठ गये। 'अश्वस्तिष्ठति इति',[13] अश्व इस वृक्ष में स्थित है, इस व्युत्पत्ति से उस वृक्ष का नाम अश्वस्थ पड़ गया। इसी अस्वस्थ वृक्ष को अग्न्याधान का एक संभार माना गया है क्योंकि इसमें अग्नि का तेज होता है। जिसके फलस्वरूप यजमान तेजमय हो जाता है।

उदुम्बर वृक्षः– ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार देवतागण एक बार एक साथ मिलकर कभी अन्नरस बाँटकर आस्वाद ले रहे थे। वे जिस स्थान पर अन्नरस बाँट रहे थे, उस स्थान पर उसके कुछ बूँद भूमि पर गिर पड़े। उसी अन्नरस से उदुम्बर का वृक्ष बना। इस प्रकार अन्नरस का प्रतीक उदुम्बर वृक्ष भी अन्याधान का एक संभार है; इससे यजमान भरपूर मात्रा में अन्नरस प्राप्त करता है– ''देवा वा ऊर्जंव्यश्रजन्त। तत् उदुम्बर उद्रतिष्ठत्। ऊग्र्वा उदुम्बरः। यदौदुम्बरः संभारो भवति। ऊर्जमेवावरून्हे, इति।''[14]

पलाश वृक्षः– वनस्पति संभारों में से पलाश वृक्ष भी एक संभार है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार, द्युलोक (तृतीय लोक) में सोमवल्ली स्थित था, जिसे गायत्री देवता ने सोम रक्षक के साथ युद्ध करके प्राप्त किया था। उसी सोम लता की एक पत्ती अकस्मात् टूट कर सद्भूमि (यज्ञ भूमि) में गिर पड़ी। उसी से पलाश वृक्ष हुआ। चूँकि यह पर्ण से उत्पन्न हुआ था, इसलिए इसका नाम पलाश हुआ– ''पर्णजन्यत्वात्तस्य वृक्षस्य पर्णनाम संपन्नम्''।[15] यजमान इस संभार के प्रयोग द्वारा सोमपान के गुणों को प्राप्त करता है।[16] अर्थात् आनन्द प्राप्त करता है। इसके साथ ही साथ वह ब्रह्मवर्चस्व भी प्राप्त करता है। इसके बारे में कहा गया है कि एक बार देवतागण पलाश वृक्ष की छाया में बैठकर परस्पर ब्रह्म के विषय में संवाद कर रहे थे। पलाश वृक्ष के समीप इन मन्त्रों का उच्चारण करने से उस पलाश वृक्ष ने सब कुछ सुन लिया। अच्छी तरह सुनने के कारण 'सुश्रवा' भी इसे कहा जाता है। इस प्रकार मन्त्र को अच्छी तरह से सुनने के कारण पलाश वृक्ष को यजमान द्वारा संभार रूप में प्रयोग करने से वह (ब्राह्मण) ब्रह्मवर्चस्व को प्राप्त करता है।

शमी वृक्षः– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार चतुर्थ संभार के रूप में शमी वृक्ष को अपनाया जाता है। इससे अग्नि का दाहकत्व भाव शान्त रहता है। कहा जाता है कि प्रजापति ने अग्नि को उत्पन्न किया था; कहीं यह मुझे जला न दें, यह भय उन्हें बारम्बार सताता रहता था। इसी भय से उन्होंने शमी वृक्ष की शाखा से अग्नि को शान्त कर दिया। 'शमयति अनेन'[17] इस व्युत्पत्ति से 'शमी' नाम सम्पन्न हुआ है। यजमान द्वारा शमी वृक्ष के प्रयोग से अग्नि उसे जलाती नहीं है; बल्कि शान्त रहकर कार्य–सिद्धि में सहायक होती है।

विकङ्कत वृक्षः– तै0ब्रा0 के अनुसार प्रजापति द्वारा सृष्ट अग्नि ने शीघ्रतापूर्वक जाते हुए विकङ्कत वृक्ष को देखा, जिससे उस वृक्ष ने अग्नि का तेज (दीप्ति) प्राप्त कर लिया। इसी विकङ्कत वृक्ष को यजमान ने अग्न्याधान में पंचम संभार के रूप में उपयोग किया है; ताकि यजमान का यज्ञ पूर्ण दीप्ति को प्राप्त कर सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 तै0ब्रा0 1.1.3
2 तै0ब्रा0 1.1.3
3 तै0ब्रा0 1.1.3.15
4 'सप्त पार्थिवान्संभारानाहरत्येवं वानस्पत्यान्' इति। तै0ब्रा0 1.1.3.
5 तै0ब्रा0 1.1.3

6 तै0ब्रा0 1.1.3.16
7 तै0ब्रा0 1.1.3.16
8 तै0ब्रा0 1.1.3.17
9 तै0ब्रा0 1.1.3.17
10 तै0ब्रा0 1.1.3.18
11 तै0ब्रा0 1.1.3.18
12 तै0ब्रा0 1.1.3.19
13 तै0ब्रा0 1.1.3.19
14 तै0ब्रा0 1.1.3.20
15 तै0ब्रा0 1.1.3.21
16 तै0ब्रा0 1.1.3.21
17 सोमजन्यस्य तस्य संभरणेन सोमपानमेव प्राप्नोति। तै0ब्रा0 1.1.3.21
18 तै0ब्रा0 1.1.3.22

ग्रामीण एंव शहरी महिलाओं की रोजगार की स्थिति का उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति पर प्रभार का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. सुशीला माहौर

प्राचार्य
शासकीय विजया राजे
स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय
मुरार, ग्वालियर (म.प्र.)

शोध सारांश – भारतीय समाज में नारी का स्थान प्रारम्भ से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। प्राचीन काल में गार्गी, मेत्रयी, अत्री जैसी स्त्रियों का सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, परन्तु मध्यकाल में महिलाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी, वह मध्यकालीन कुरीतियों में जकड़ी हुई थी, उनके शैक्षणिक, आर्थिक एंव सामाजिक अधिकार छिन लिये गयें थे। लेकिन धीरे–धीरे विकास की राह में महिलाओं की आर्थिक–समाजिक एंव शैक्षणिक विकास पर जोर दिया जाने लगा जिसका श्रेय अनेक समाज सुधारकों **राजाराम मोहन राय** तथा **हरविलाश शारदा** जैसे लोगो को जाता है, जिनके अथक प्रयास से स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आने लगा और आज महिलाएं कार्यालयों, सामाजिक, राजनैतिक एवं विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश के विकास में संलग्न हो रही है, साथ ही ग्रामीण महिलाएं भी खेती करने के अलावा अन्य छोटे व्यवसाय तथा कुटीर उद्योगो में अपनी अद्भुत क्षमता का परिचय दे रही है। लेकिन इनका कार्य क्षेत्र शहरी महिलाओं की अपेक्षा कम ही है। जिसका मुख्य कारण इनकी अशिक्षा सामाजिक रूढिवादिता परिवारिक बंधन व व्यवसाय के संचालन की अज्ञानता है। अतः समाज एवं राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है, कि महिलाओं को न केवल शिक्षित किया जाए बल्कि उन्हे आर्थिक रूप से सशक्त किया जाए। प्रस्तुत शोधकार्य में इसी बात को ध्यान में रखकर कार्यरत ग्रामीण एवं शहरी महिलाओं के रोजगार का उनकी आर्थिक एंव सामाजिक स्थिति पर प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

शब्दकुंजी :– रोजगार की स्थिति, आर्थिक एंव सामाजिक स्थिति पर प्रभाव

राष्ट्रीय विकास और महिलाओं की स्थिति में घनिष्ट संबध है। महिलाओं की स्थिति का निर्धारण प्रत्येक समाज की तत्कालीन परिस्थियों एवं संस्कृति के द्वारा होता है। वह पुरूष के समान समाज का एक घटक है और अपने विकास की अपेक्षा करना उनका अधिकार है। एक समय था जब महिलाएं स्वयं को पुरूषों पर आश्रित और हीन समझ कर

समाज और पुरूष वर्ग से अपनी भलाई की अपेक्षा करती थी, उस समय उनके लिए शिक्षा के दरवाजे भी बंद थे। किन्तु आज का युग परिवर्तित हो चुका है। सुस्त मानवता घोर निद्रा के बाद जाग उठी है। स्त्री–जाति ने भी परदे और अन्ध–विश्वासों से उपर उठकर अपने कदम आगे बढ़ाये है।

आरम्भ में महिलाएं घरेलू कार्य तक ही सीमित थी किन्तु इस कार्य से न तो महिलाओं की शिक्षा का सदुपयोग होता था और न ही उनके आत्म सम्मान की रक्षा होती थी। लेकिन पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ रहा है, उससे व्यक्ति अपने स्तर को उच्च रखना चाहता है। आज के इस प्रतियोगिता के युग में किसी भी परिवार को उचित ढंग से चलाने एवं परिवार के आर्थिक कार्य स्तर को उन्नत करने के लिए अधिक पैसे की आवश्यकता होती है और ये एक व्यक्ति की आय पर निर्भर नही रह सकता है। ऐसी स्थिति में महिलाओं द्वारा कुछ आर्थिक कार्य किया जाना आवश्यक हो गया है। धीरे–धीरे महिलाओं ने घर में ही रहकर जो उद्योग सरलता से तथा कम पूंजी में किये जा सकते थे जैसे– सूत कातना, वस्त्रों की सिलाई, पापड़–बडी बनाना आदि कार्य करना प्रारम्भ किया किन्तु वर्तमान में महिलाएं घरो से बाहर आने को तत्पर हुई है, और उन्होने विभिन्न क्षेत्रो में पदार्पण कर सफलता अर्जित की है, आज अवसर मिलने पर महिलाएं पुरूषों के बराबर कंधे से कंधा मिलाकर चल रही हे चाहे वह विज्ञान का क्षेत्र हो या शिक्षा का प्रशासन का क्षेत्र हो या उद्योग का आज वे अपनी लगनशीलता से अपने पारिवारिक दायित्वों को सामाजिक या अन्य कार्यक्षेत्रों के माध्यम से पूरा कर रही है। परिवर्तन के दौर से गुजर रहे आज के युग में ग्रामीण क्षेत्र के लोगो की विचार धारा में परिवर्तन हो रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में अब महिलाओं के अर्थोपार्जन करने को बुरा नहीं माना जाता है। ग्रामीण महिलाएं छोटे–बडे उद्योगों, शिक्षण संस्थाओं, अस्पतालों, आगनबांडी आदि स्थानों पर काम करने लगी हे। अब शहरी महिलाओं के साथ–साथ ग्रामीण महिलाओं में भी यह विश्वास उत्पन्न हो रहा है कि वे प्रयत्न और श्रम से अपनी सामाजिक प्रस्थिति को परिवर्तित कर सकती है। नगरीय क्षेत्रों के सम्पर्क में आने के कारण उनके दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन हो रहा है वे घर की चौखट से बाहर निकलकर बाहरी दुनिया से सम्पर्क साधना चाहती है व राष्ट्र की प्रगति में अपना पूर्ण योगदान देना चाहती है वह पर्दा प्रथा को छोड़कर स्वतंत्र रहना चाहती है। यहॉ तक कि ये ग्रामीण महिलाएं अब शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् नौकरी करने को प्राथमिकता देने लगी है। वहीं पुरूषों ने भी समझदारी से उन्हे स्वतंत्रता प्रदान करना प्रारंभ कर दिया है।

राजाराम मोहन राय तथा हरविलाश शारदा जैसे लोगो के प्रयास से स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ और आज महिलाएं कार्यालयों, सामाजिक, राजनैतिक एवं विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश के विकास में संलग्न हो रही है, साथ ही ग्रामीण महिलाएं भी खेती करने के अलावा अन्य छोटे व्यवसाय तथा कुटीर उद्योगो में अपनी अद्‌भुत क्षमता का परिचय दे रही है।

अध्ययन क्षेत्र व पद्धति –

प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र ग्वालियर जिला है। प्रस्तुत शोध प्राथमिक एवं द्वितीयक समंको एवं सूचनाओं पर आधारित हैं प्रस्तुत अध्ययन में प्राथमिक आकडों के लिए दैव निदर्शन की लौटरी पद्धति का प्रयोग कर ग्वालियर जिले की कुल 400 (200 ग्रामीण एवं 200 शहरी) कार्यरत महिलाओं का चयन किया गया है शोध के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत उन्ही महिलाओं को सम्मिलित किया गया है जिनको कार्यरत रहते हुए कम से कम दो या दो से अधिक वर्ष हो चुके हैं।

अध्ययन का उददेश्यः–

कार्यरत ग्रामीण व शहरी महिलाओं की छवि को सही रूप से प्रस्तुत कर समाज के समक्ष लाने के लिए अध्ययन के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य रहे हैः–

1. ग्वालियर जिले की ग्रामीण एवं शहरी महिलाओं की रोजगार की स्थिति को जानना।
2. ग्वालियर जिले की कार्यशील ग्रामीण एवं शहरी महिलाओं का उनके आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में जानना।
3. ग्वालियर जिले की ग्रामीण व शहरी महिलाओं को सरकार द्वारा चलाई जा रही आर्थिक एवं सामाजिक योजनाओं के बारे में जानना।

तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषणः–

तालिका क्रमांक – 1

महिला उत्तरदाताओं के कार्यरत रहने पर समाज में उसकी स्थिति को दर्शाने वाली तालिकाः–

क्र	कार्यरत रहने पर समाज में स्थिति	ग्रामीण महिला उत्तरदाता		शहरी महिला उत्तरदाता		कुल महिला उत्तरदाता	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1	उच्च स्थिति (पहले से और अच्छी)	23	11.5	152	76	175	43.75
2	निम्न स्थिति	145	72.5	8	4	153	38.25
3	सामान्य स्थिति	32	16	40	20	72	18
	योग	**200**	**100**	**200**	**100**	**400**	**100**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अध्ययन में सम्मिलत (43.75%) महिला उत्तरदाताओं में से (11.5%) ग्रामीण महिलाओं एवं (76.%) शहरी महिलाओं की स्थिति उच्च है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होते हुए भी ग्रामीण समाज में (16%) महिलाएं आज भी स्थिर अवस्था में है। अध्ययन में सम्मिलित ग्रामीण महिला उत्तरदाताओं में से सिर्फ (11.5%) उत्तरदाता महिलाएं जो शहर के निकट गांवों में निवास करती है जिनकी समाज में उच्च

स्थिति है इन महिलाओं मे पर्दा जिनकी समाज में उच्च स्थिति है इन महिलाओं में पर्दा प्रथा का प्रतिबंध की कम हुआ है। लेकिन (72.5%) ग्रामीण उत्तरदाता महिलाओं की निम्न स्थिति इस बात को दर्शाती है कि अभी भी ग्रामीण समाज रूढीवादी बेड़ियों में जकड़ा है जो कि महिला जगत में होने वाली क्रान्ति को नही स्वीकारना चाहते।

तालिका क्रमांक – 2

महिला उत्तरदाताओं के होने के कारण परिवार में उसकी स्थिति को दर्शाने वाली तालिकाः–

क्र.	परिवार में स्थिति	ग्रामीण महिला उत्तरदाता		शहरी महिला उत्तरदाता		कुल महिला उत्तरदाता	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1	उच्च स्थिति	17	8.5	128	64	145	36.25
2	निम्न स्थिति	15	76	43	21.5	195	48.75
3	सामान्य स्थिति	31	15.5	29	14.5	60	15
	योग	**200**	**100**	**200**	**100**	**400**	**100**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल 36.25 % उत्तरदाता महिलाओं मे से 8.5% ग्रामीण उत्तरदाता महिलाओं एवं 64% शहरी उत्तरदाता महिलाओं की परिवार में उच्च स्थिति है। जबकि 48.75% महिला उत्तरदाताओं की परिवार में निम्न स्थिति है। इन महिला उत्तरदाताओं में सर्वाधिक ग्रामीण उत्तरदाता महिलाएँ है।

निरन्तर परिवर्तित परिस्थितियों के उपरान्त भी ग्रामीण महिलाओं की स्थिति आज भी सोचनीय है कार्यरत होने के उपरान्त भी इन महिलाओं की परिवार में स्थिति सम्मानजनक नहीं है उनकी परिवार में स्थिति परम्परागत रूप से परिवर्तित हो रही है।

स्पष्ट है कि ग्रामीण महिलाओं के रोजगार का उनकी पारीवारिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। जिसका मुख्य कारण संयुक्त परिवार व्यवस्था का होना तथा परम्परावादी पुरूष प्रधान समाज का होना है।

तालिका क्रमांक – 3

महिला उत्तरदाताओं का सरकार द्वारा चलाई जा रही योजनाओं के लाभ को दर्शाने वाली तालिका

क्र.	सरकार द्वारा संचालित योजनाओं का लाभ	ग्रामीण महिला उत्तरदाता		शहरी महिला उत्तरदाता		कुल महिला उत्तरदाता	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1	हॉ	78	39	31	15.5	109	27.25

2	नहीं	122	61	169	84.5	291	72.75
	योग	**200**	**100**	**200**	**100**	**400**	**100**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 61% ग्रामीण व 84% शहरी उत्तरदाता महिलाओं मे से किसी ने भी सरकार द्वारा संचालित योजना का लाभ नहीं लिया है।

उपर्युक्त तालिका के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वर्तमान में सरकार द्वारा कई योजनाएं संचालित की जा रही है लेकिन कई महिलाएं ऐसी है जिन्होने सरकार द्वारा संचालित किसी भी योजना का लाभ नहीं लिया हैं

तालिका क्रमांक – 4

महिला उत्तरदाताओं के कार्यरत रहने के पूर्व उनकी आर्थिक स्थिति को दर्शाने वाली तालिकाः–

क्र.	कार्यरत रहने के पूर्व आर्थिक स्थिति	ग्रामीण महिला उत्तरदाता		शहरी महिला उत्तरदाता		कुल महिला उत्तरदाता	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1	उच्च	50	25	78	39	128	32
2	निम्न	135	67.5	20	10	155	38.75
3	मध्यम	15	7.50	102	51	117	29.25
	योग	**200**	**100**	**200**	**100**	**400**	**100**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल (38.5%) महिला उत्तरदाताओं में से (67.5%) ग्रामीण महिला उत्तरदाताओं व (10%) शहरी महिला उत्तरदाताओं को कार्यरत रहने से पूर्व उनकी आर्थिक स्थिति निम्न थीं

जबकि अधिकांश महिलाओं की आर्थिक स्थिति उनके कार्यरत रहने से पूर्व निम्न या मध्यम थी जिसमें अधिकांश ग्रामीण महिला उत्तरदाता थी। इसका एक कारण यह भी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश महिलाएं ऐसे परिवार से है जिनके पति या परिवार की आय निम्न होती है जबकि शहरों में अधिकांश महिलाएं ऐसे परिवार से सम्बंधित होती है जहॉ परिवार की उच्च आर्थिक स्थिति या पति की आय अधिक होती है।

तालिका क्रमांक – 5

महिला उत्तरदाताओं के परिवार की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन को दर्शाने वाली तालिकाः–

क्र.	आर्थिक स्थिति	ग्रामिण महिला उत्तरदाता		शहरी महिला उत्तरदाता		कुल महिला उत्तरदाता	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1	पहले से	180	90	190	95	370	92.5

	अच्छी						
2	कोई परिवर्तन नही	02	10	4	2	06	1.5
3	पहले से कुछ सुधार	1.8	9.0	6	3	24	6
	योग	**200**	**100**	**200**	**100**	**400**	**100**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि (92.5%) महिला उत्तरदाताओं में से (90%) ग्रामीण व (95%) षहरी महिला उत्तरदाताओं की आर्थिक स्थिति पहले से अच्छी है। अतः उपरोक्त सारणी के विष्लेषण से स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक महिला उत्तरदाताओं की आर्थिक स्थिति पहले से अधिक अच्छी हो गई है वे अपनी आवष्यक्ताओं को पहले से अधिक पूरा कर लेती है व उनके जीवन स्तर में भी सुधार हुआ है जबकि कुछ ही महिला उत्तरदाताओं की आर्थिक स्थिति पहले जैसी ही है उसका मुख्य कारण उनके परिवार में आश्रित सदस्यों की संख्या अधिक होना या पति का गलत आदतों मे होना है ।

तालिका क्रमांक – 6

महिला उत्तरदाताओं के महिला होने के कारण परेशानी को दर्शाने वाली तालिका

क्र.	महिला होने के कारण परेशानी	ग्रामीण महिला उत्तरदाता		शहरी महिला उत्तरदाता		कुल महिला उत्तरदाता	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	125	62.5	84	42	209	52.25
2	नही	75	37.5	116	58	191	47.75
	योग	**200**	**100**	**200**	**100**	**400**	**100**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल 52.25% महिलाओं मे से 62.5% ग्रामीण महिलाओं को अभी भी इन विशेष परेशानियों का अत्यधिक सामना करना पड़ता है जबकि 42% शहरी महिलाओं को इन परेशानियों का कम सामना करना पडता है। अतः हम कह सकते हैं कि समय के साथ शहरी वातावरण धीरे–धीरे महिलाओं के पक्ष में बदल रहा है किन्तु ग्रामीण परिवेश अभी भी इस दिशा में पिछड़ा हुआ है।

वर्तमान परिवेश में अभी भी ऐसी महिलाएं है जिन्हे महिला होने के कारण कई परेशानियों का सामना करना पड़ा है विशेषतः ग्रामीण समुदाय में जहाँ महिलाओं को दूसरा स्थान दिया जाता हैं। जिसके कारण कर्यस्थल तथा घर मे उन्हे कई असमाजिक तत्वों का सामना करना पड़ता है। ऐसा नहीं है ये महिला होने के कारण सिर्फ ग्रामीण महिलाओं को

ही परेशानियों का सामना करना पड़ता है बल्कि शहरी सशक्त महिलाओं को भी महिला होने के कारण कार्यस्थल तथा घर में परेशानियों का सामना करना पड़ता है लेकिन इस प्रकार की परेशानियों से निपटने की क्षमता ग्रामीण महिलाओं की तुलना में अधिक होती है क्योंकि ग्रामीण स्त्रियां सामाजिक बंधनों से मुंह नहीं खोल पाती है।

निष्कर्षः–

अतः किए गए शोध से यह निष्कर्ष निकलकर सामने आता है कि ग्रामीण एवं शहरी महिलाओं में अर्थोपार्जन करने हेतु उनमें विपुल प्रतिभाएं निहित है लेकिन जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल होने के लिए महिलाओं के लिए दो बाते आवश्यक है प्रथम स्वयं में आत्मनिर्भरता, लगनशीलता हिम्मत और निष्ठा होना तथा द्वितीय अनुकूल वातावरण होना जिससे कि उनकी सफलता निःसंदेह होती है। आवश्यकता इस बात की है की उन्हें सामाजिक पारिवारिक राजनैतिक स्तरों हेतु रोजगार को सृजित करने हेतु प्रोत्साहित किया जाए। जिससे की और अच्छे परिणाम प्राप्त हो सके यदि ये कठिनाइयॉ और न्यून हो तो ग्वालियर विकसित क्षेत्र में महिला उद्यमी और भी अधिक आगे आ सकती है। जिसके लिए आवश्यक है उपरोक्त उपायों द्वारा उन्हें आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से सशक्त बनाया जाए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आहुजा, राम; ''भारतीय सामाजिक व्यवस्था'', रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1995
2. बद्येल, डी.एस; ''भारत में सामाजिक परिवर्तन व समस्याएं'', पुष्पराज प्रकाशन, दिल्ली, 1987
3. देसाई, नीरा; ''बदलते परिवेश में नारी'', वोरा एण्ड पब्लिकेशन, बॉम्बे, 1982
4. ''महिलाओं का सशक्तिकरण'', विज्ञापन एवं दृश्य प्रसार निर्देशालय सूचना और प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली, 2001

समकालीन स्त्री विमर्श में मैत्रेयी पुष्पा का योगदान

शिखा तिवारी (गोल्ड मेडलिस्ट)

शोध–छात्रा (हिन्दी)
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
Mail Id- shikhat521@gmail.com

हिन्दी में समकालीन साहित्य का सृजन सन् 1980 से माना जाता है, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि 7वें दशक से निर्मित होने लगी थी। स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान ढेरों महिला लेखिकाएं आगे आयी, परन्तु बदलाव की कुछ विशेष बातें दृष्टिगत नहीं हुई। दरअसल किसी भी तरह के लेखन के लिए ज्वालामुखी जैसी परिस्थितियां होनी चाहिए। लावों को निकालने के लिए छोटा ही सही पर मुहाना होना चाहिए। इसकी असली जमीन तैयार की समाज की विसंगतियों ने। ''ऐसी विसंगतियां जिसमें एक स्त्री सिर्फ भोग्या थी, उसके रिश्ते–नाते, नैतिक मूल्य और संवेदनाएँ सब कुछ बाजारू।''

इन सब कारकों ने मिलकर महिलाओं को उद्वेलित किया और रचना धर्मिता के लिए बेहतर जमीन तैयार की। यानी सकारात्मक–नकारात्मक दोनों पहलू महिला लेखिकाओं के लिए समान रूप से लाभप्रद रहें।

इस लेखन में उनके अन्तर्विरोध है, उनके जीवन की टूटी हुई लय है, उसका यथार्थ है ''स्त्री विमर्श जनांतिक मूल्यों का मानवाधिकारों का लेखन है। यह लेखन स्त्रियों के हर तरह के भेद–भाव के दमन और अन्याय के खिलाफ है इसमें कहीं स्त्रियों की यथार्थता है तो कहीं इनकी संवेदनाएँ।''

जब भी ''मैत्रेयी जी'' के ग्रामीण पात्रों के संघर्ष की तरफ दृष्टि जाती है तो 'द्वितीय सप्तक (1951)' के कवि 'रघुवीर सहाय' की वह काव्य पंक्ति जिसमें घरेलू महिलाओं की वेदना को अभिव्यक्त किया है, का उल्लेख सार्थक प्रतीत होता है।

पढ़िये गीता
बनिए सीता
फिर इन सब में लगा पलीता
किसी मूर्ख की बन परणीता
निज घर बार बसाइए
होंय कटीली
आंखे गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली

घर की सबसे बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइए।''[1]

रचनाकार अपने आस–पास जो देखते है, जिस समाज में रहते है, उस समाज में उस युग की व्याप्त विषमताओं को केन्द्र में रखकर ही लेखनी चलाता है और अपनी लेखनी से समाज को एक नई प्रेरणा देता है। हमारे हिन्दी जगत मे भी ऐसे प्रतिबद्ध संकल्पित रचनाकारों की कमी नहीं रही स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खासकर साठोत्तरी युग में महिला रचनाकारों ने इस परम्परा में अपना योगदान दिया। इसी परम्परा की एक सार्थक कड़ी है– 'मैत्रेयी पुष्पा जी'।

'मैत्रेयी जी' का समस्त साहित्य 'स्त्री संघर्ष और स्वतन्त्रता' का प्रेरक है। 'मैत्रेयी जी' ने पराधीनता को करीब से देखा ही नही स्वयं अनुभव भी किया। इस बात की पुष्टि इस कथन से होता है– ''सन् 1947 में जो आजादी मिली वह स्त्रियों की आजादी हरगिज नही हो सकती बल्कि हमें गुलाम बनायें रखने वाले गुलाम अब आजाद होकर और भी बर्बर हो गये। उन्होंने हमारी अयोग्यता सिद्ध करने के लिए छल–बल का प्रयोग किया।''[2]

रचनाकार अपने आस–पास जो देखते है, व जिस समाज में रहते है, उस समाज में उस युग की व्याप्त विषमताओं को केन्द्र में रखकर ही लेखनी चलाता है और अपनी लेखनी से समाज को एक नई प्रेरणा देता है।

'मैत्रेयी जी' का जीवन बड़ा ही संघर्षशील रहा, अपने द्वारा उठायी गयी कठिनाईयों से वे कभी अलग नही हो पायी। इतने वर्षों से जो उमड़–घुमड़ रहा था, कलम का सहारा लेकर बरस पड़ा। तभी तो वे लिखती है–

''मैंने साहित्य की लुकाठी के साथ खड़ा होना चाहा था, क्योंकि इस क्षेत्र में स्त्री उत्कर्ष की बातें जोर–शोर से होती है।''[3]

अपने नारी पात्रों के माध्यम से उन्होंने 'स्त्री स्वतन्त्रता' के समर्थक के रूप में परिचय दिया है। उनके अर्द्ध शिक्षित, अशिक्षित नारी पात्र भी अपने अधिकार तथा स्वतन्त्रता के प्रति सचेत है– ''**मुझे गर्व है उस औरत पर जो अनपढ़ होकर भी बुद्धिमान, साधन विपन्नता झेलते हुए भी स्नेहमयी, गूंगी होकर भी कर्मशील, असभ्य कहलाकर भी सत्यनिष्ठ और सब तरफ से घिरी होकर भी मुक्त होने के लिए कटिबद्ध है।''[4]**

'मैत्रेयी जी' ने मुख्य रूप से अपने साहित्य के माध्यम से पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री की स्थिति को उजागर किया है। यद्यपि ये 'प्रेमचन्द्र, 'रेणु', 'भगवती शरण उपाध्याय' आदि रचनाकारों से भी प्रभावित रही, परन्तु कतिपय विद्वान इनको रेणु और प्रेमचन्द्र परम्परा का अनुयायी समझने की भूल कर दिये। 'मैत्रेयी जी' ने साफ कह दिया– **''प्रेमचन्द्र, रेणु हो या जैनेन्द्र हो अपने समय को अपने ढंग से समझ रहे थे। मुझे लगा स्त्रियों की दुनिया को मानचित्र, त्याग और समर्पण का ऐसा दल–दल बना दिया है कि जिसमें स्त्री धंसती चली जाती है। यदि सतह पर कुछ दिखाई देता है तो वह है उसके पवित्र आचरण, शील और आत्मसंहार की झंडी।''[5]**

'मैत्रेयी पुष्पा जी' ने स्त्री समस्याओं को बड़े ही कुशलतापूर्वक ढंग से व्यक्त किया है लेकिन साहित्य जगत से 'मैत्रेयी जी' को जितना यश मिला उतना ही अपयश, लेकिन इन्होंने हर बार कुछ नया लिखकर साहित्य जगत को चकित कर दिया। जो इनके साहित्य को नैतिकता और अनैतिकता के खांचे में डालकर परखना चाहते है उनके लिए इनका– **'साहित्य का लक्ष्य है आनन्द'** नामक लेख पर्याप्त है–

''यह सवाल नहीं है बल्कि देखी–जानी बात है कि जनता की शक्ति में आस्था रखना पुराना विचार हो गया है, इसलिए जर्जर भी हो गया है। नृशंस हत्याओं के खूनी दलदल, औरतों की चीखें खाक होती बस्तियां और उनकी चीखें–कराहें साहित्यकारों को अब उद्वेलित नहीं करती, तो किसान, मजदूर और स्त्रियों के हक की बात करना ही बेमानी है।''[6]

'मैत्रेयी जी' उन समस्त लेखकों के प्रति रोष व्यक्त करती है जो आदर्शवादी साहित्य रचना में वास्तविकता को पाठक के सामने लाने में परहेज करते है। 'मैत्रेयी जी' के इसी दृष्टिकोण ने इन्हें– **'कस्तूरी कुण्डल बसे (2002), न्हिार (1991), लालमनियां (1996), गोमा हंसती है (1998), स्मृतिदर्श (1990), चॉक (1997), अगनपाखी (2001), खुली खिड़कियां (2001)** इत्यादि विधाओं कहानी, आत्मकथा, उपन्यास उनके 'स्त्री विमर्श' के क्रान्तिकारी पक्ष को प्रस्तुत करते है। **'विधवा समस्या'** को उजागर करने के लिए ही इन्होंने– **'स्मृतिदंश', 'बेतवा बहती रही'** उपन्यास लिखती है। ''इनमें किसी भावुक पाठक की आंखों को अश्रुपूरित कर देने वाले अत्याचार का अंकन किया गया है।''

'चाक' उपन्यास 'स्त्री विमर्श' का सशक्त उपन्यास है, जिसका केन्द्रीय बिन्दु है 'स्त्री तथा उसकी अनगिनत यातनाएँ'। नारी यातना सभी युग, सभी जाति–वर्ग, समाज की स्त्रियों का ऐसा कटु सत्य है कि इसमें स्त्रियों का बचना मुश्किल हो जाता है।

''किन्तु आज की स्त्रिया जागृत हो गयी है वे पुरूषों द्वारा किए गये जुल्मों के खिलाफ आवाज उठा सकती है, चाहे वो शिक्षित हो या अशिक्षित।'' 'मैत्रेयी जी' ने अपने दो निबन्ध संग्रहों– **'सुनो मालिक सुनो' और 'खुली खिड़कियां'** के माध्यम से समस्याओं, शोषण को वाणी देते हुए गम्भीरता से विचार करती है। 'खुली खिड़कियां' का केन्द्रीय विषय रहा है– **'स्त्री होने के कारण स्त्री का दैहिक व मानसिक शोषण हो रहा उससे वह मुक्त केसे हो ?'**

'सुनो मालिक सुनो' का सबसे सबल पक्ष यह है कि 'मैत्रेयी जी'–''स्त्री को पुरूष जैसे होने के स्थान पर समाज, परिवार तथा हर क्षेत्र में अपना स्त्रीत्व और अधिकार मांगने तथा एक स्वतन्त्र सौन्दर्यशास्त्र रचने की सलाह देती है।'' इसके प्रारम्भ में ही स्पष्ट करती है– ''अपने लेखन से मेरी पहली अपेक्षा रहती है जीवन के पक्ष में खड़ी होना जीवन जो गतिशीलता के साथ रहे।''[7]

इसी निबन्ध का 'दूसरा भाग' जिसका नामकरण– **(स्त्री मेरे पाठ में)** की है। इसमें– **'आपकी धनियां, अनुपस्थित भाषा के पात्र', 'अधंकार और रोशनी' (आलो अंधारी), 'मैं**

चित्रलेखा हूं' आदि लेखों का समावेश करती है, अपने क्रान्तिकारी विचारों का परिचय देते हुए कहती है–

''मेरी सीता यदि राम के साथ पत्नी बनकर जाती तो सबसे पहले उस शूर्पनखा को बचाती, जिसकी नाक उनके पति और देवर काट रहे थे। प्रणय निवेदन की सजा एक लड़की को अंग–भंग करके दे रहे थे।''[8]

'मैत्रेयी जी' के इसी प्रवृत्ति ने अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों की रचनाओं पर पुनः विचार करने के लिए विवश किया। स्वयं के विचारों को खारिज कर पुनः लिखने की सामर्थ्य भी है उनमें, इसीलिए तो **'स्मृतिदंश'** उपन्यास को **'अगनपाखी'** और **'बेतवा बती रही' पर 'त्रियाहठ'** लिखने में समर्थ रही।

'मैत्रेयी पुष्पा जी' भले ही साहित्य कार्य में विलम्ब से कदम रखी हो, लेकिन उनके द्वारा लिखा गया साहित्य इतना सशक्त और बेजोड़ है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। **'स्त्री विमर्श'** के नये आयामों को वाणी देते हुए कहती है– **''मेरे लिए 'स्त्री विमर्श' का अर्थ स्त्री की स्वतन्त्रता, इच्छा और अस्मिता है।''**

समकालीन साहित्य में 'स्त्री विमर्श' को 'मैत्रेयी जी' ने एक नया आयाम दिया, इनकी लेखनी इनके गहन एवं गम्भीर विचारों की परिवाहक रही है।

अन्ततः हम कह सकते है 'स्त्री विमर्श' में स्त्री और पुरूष एक दूसरे के पूरक है। यदि पुरूष चाहता है कि स्त्री दुनिया का हिस्सा बने तो उसे अपनी सोच बदलनी होगी। अभी तक स्त्री ही क्यों बदलती आयी है ? कयोंकि उसमें कुछ ऐसे मानवीय गुण पाये जाते है, अतः पूर्व से ही मानवीय गुणों से ओत–पोत पुरूष में यदि आवश्यकता है तो इन मानवीय गुणों के विस्तार की और फिर सम्पूर्ण पुरूष और स्त्री के गुणों को समान रूप से देखा जाये। विचार किया जाये कि हम जमाने की दौड़ में दुनिया भी में पीछे क्यों है? कयोंकि हमने अपने आधे हिस्से को अधिकार विहीन, उपेक्षिता बनाये रखा।

नारी की शक्ति का उपयोग करके ही हम एक सजग, समाज की रचना और चहुंमुखी प्रगति कर पायेंगे और तभी 21वीं सदी में 'स्त्री विमर्श' करना सार्थक होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, बच्चन सिंह, पृष्ठ सं– 261
2 गोमा हंसती है (समय मेरे सन्दर्भ में), मैंत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ सं– 13
3 वही, पृष्ठ सं– 10
4 चिन्हार (मैं सोचती हूं कि), मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ सं0– 143
5 विजय बहादुर सिंह, वसुधा अंक– 72, जनवरी–मार्च, पृष्ठ सं0– 116
6 वसुधा अंक– 72, जनवरी–मार्च 2007, कमला प्रसाद, पृष्ठ सं0– 115
7 सुनो मालिक सुनो, मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ सं0– 23
8 सुनो मालिक सुनो (लक्ष्मण रेखा की चुनौतियां), भूमिका

छायावादी कवियों का आत्म–प्रसार

अजय कुमार तिवारी

अध्यापक, जवाहर नवोदय विद्यालय
पश्चिम सिंयांग (अरूणाचल प्रदेश)

छायावादी कवियों ने जो आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा प्रकट की वह वस्तुतः आत्म प्रसार की आकांक्षा थी। इनके द्वारा दुःख–वेदना जो भी स्वनुभूतियाँ व्यक्त की गयी उन पर यदि हम व्यापकता से विचार करें तो उसमें लोक कल्याण का पूर्ण समावेश मिलता है, उनका दृष्टिकोंण समाज में व्याप्त विषमताओं की तरफ भी जाता है, जिसे दूर करने के लिए कहीं न कहीं ये अपनी अभिव्यक्ति को प्रसारित करते हैं।

यद्यपि एक सामान्य मानव को दुःख वेदना पीड़ा और व्यथा जैसी मनोदशाएँ वांछनीय नहीं लगती। मानव में दुःख की अपेक्षा सुख, विशाद की अपेक्षा हर्ष और अश्रु की अपेक्षा ह्रास के प्रति एक सहज वांछा होती है।

छायावादी कवियो नें इस सामान्य जीवन दृष्टि और सहज मानवाकांक्षा से अलग हटकर जीवन में वेदना और दुःख के महत्व पर पुनर्चिंतन करते हुए उसे नवीन रूप में मूल्यांकित और गौरवान्वित किया है। इसी दुःख और वेदना के पीछे एक मर्मसूत्र भी तो है जिसके अन्तर्गत सहानुभूति, समानुभूति, संवेदना और मानसिक साहचर्य है।

आत्म–प्रसार की इस आकांक्षा में कवि प्रथमतः प्राचीन रूढियों को तोड़ते हुए आत्म–प्रसार व्यक्त करते हैं। 'पंचवटी प्रसंग में निराला के राम सीता को आत्म प्रसार का उपदेश देते हुए पारिवारिक सीमाओं की ओर संकेत करते हैं–

छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं छुद्र भाव
यह सच है प्रिये
प्रेम का पयोनिधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।[1]

छायावादी कवियों ने प्रेम के जिस रूप को व्यक्त किया उसमें उदात्त भाव को प्रतिष्ठित किया गया है और यदि हम देखें तो छायावाद के परवर्ती कालों में प्रेम के अत्यन्त संकीर्ण भावों को व्यक्त किया गया है। चाहे वह आदिकाल हो या रीतिकाल हो या आधुनिक काल हो। छायावादी प्रेम की उदात्तता की तुलना में आदिकालीन प्रेम स्थूलतः कायिक, आंगिक और वाह्य रहा है। भक्तिकाल के प्रेम में लौकिकता के समुचित समाहार की अपेक्षा है। रीतिकाल के कवियों का सारा–का–सारा प्रेम रसिकजनों के विलासग्रहों और कमचर्याओं

तक ही संकीर्ण रह गया और वह एक बैठे–ठाले की वस्तु बन गया। यदि भारतेन्दुयुगीन कवियो के प्रेमसौन्दर्यानुभूति को देखा जाय तो समर्थ कवियो की प्रतिभाशक्ति के बावजूद भी रीतिकाल, भक्तिकाल के परस्पर विरोधी और एकांगी छोरों के बीच चक्कर काटती रही। यद्यपि भारतेन्दु युग के अन्त और द्विवेदी युग के आरम्भ में यत्र–तत्र विस्तार के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। 'श्रीधर पाठक' जैसे कवि ने प्रकृति के क्षेत्र में इसे कुछ अंशों में विस्तृत किया। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो छायावादी कवियों की चेतना अधिक विस्तृत सजीव और उदान्त बनकर सामने आयी।

''आत्म प्रसार की भावना ने केवल परिवार की चहार दिवारी पर ही प्रहार नहीं किया, वस्तुतः अपने जीवन के सभी पक्षों में संकीर्णता का विरोध किया।''[2]

जिस प्रकार घटा स्वयं को गलाकर सम्पूर्ण सृष्टि को सुख और शीतलता प्रदान करती है और दीपक स्वयं जलकर राख हो जाता है परन्तु चारो तरफ आलोक पहुचाता है। उसी प्रकार महादेवी वर्मा स्वयं साधना के आग में जलकर सामाजिक जीवन को अधिक सुखद और मंगलमय बनाना चाहती हैं।

निराला की आत्माभिव्यक्ति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब वे लिखते हैं–

मैंने मैं शैली अपनाई
देखा एक दुःखी जन भाई

उस समय ये मैं शैली ही नहीं अपितु मैं की पूर्णतः अभिव्यक्ति भी करते हैं अपने दुःख सुख को उन्होंने जिस रूप में व्यक्त किया है वह पाठक के साथ पूर्णतः आत्मीय हो जाती है। इनकी अभिव्यक्ति लोगों के संवेदनाओं से जुड़कर प्रसारित होती है। विराट के उपासक 'महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला' ने अपनी रचना तुलसीदास में 'गोस्वामी तुलसीदास' के माध्यम से भारतीय परम्परा के गौरवशाली मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किये हैं। जिसके लिये इन्होनें लोक प्रचलित उस कथा को आधार बनाया है जब तुलसीदास पत्नी रत्नावली से मिलने उनके मायके पहुँच जाते हैं और रत्नावली की फटकार से रामोपासना में लीन हुए फिर वे घूमते हुए चित्रकूट पहुँचते हैं, वहां प्रकृति की निर्मल शोभा, परिचित रूप को देखकर उनका हृदय उन्मुक्त आकाश में उड़ने के लिए स्वतंत्र हो जाता है–

''वह उस शाखा का वन–विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग–पर–रंग, रंग पर जीवन।''[3]

यहाँ पर तुलसीदास की यह उन्मुक्त उड़ान आत्म प्रसार का प्रतीक है। रत्नावली की फटकार से तुलसीदास की चेतना मुक्त होती है और संकुचित भावों से निकल कर ऊपर की तरफ प्रसारित होती है। कवि ने व्यक्तिगत सुख और जीवन के महान एंव व्यापक मूल्यों के बीच संघर्ष दिखलाकर अन्त में उदान्त मूल्यों की विजय दिखाई है।''[4]

निराला के तुलसीदास की हर तरह उनकी राम की शक्तिपूजा के राम भी रणक्षेत्र में रावण से पराजित होकर विराट आकाश में उठते हैं और वहां देखते हैं कि 'शक्ति' 'रावण' को लांक्षन की तरह अंक (गोद) में धारण किये रक्षा कर रही हैं। यद्यपि राम धर्म के प्रतीक हैं और रावण अधर्म के, अधर्म का चित्रण इस कविता में एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में हुआ है जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुंठित होने लगता है। यह स्थिति एक ओर तो कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है, जिसका चित्रण स्वयं कवि सरोजस्मृति में करते हैं–

''धन्ये! मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित कर न सका।''

और यही स्थिति इस समय भी होती है–

''धिक जीवन को पाता ही आया विरोध
धिक साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध।''

अन्ततः 'श्री राम' शक्ति की मौलिक कल्पना करते हैं और उपासना करते हैं।

''वे गरजते हुए समुद्र की पीठिका पर खड़े लता–गुल्मों से ढके गिरिशिखर को सिंह स्थिति–शक्ति का स्वरूप मान लेते हैं और फिर शक्ति के इस भाव कल्पित' विराट रूप की उपासना में लग जाते है।''[5]

निराला इस विराट कल्पना में ही समस्या का असली समाधान मिलता है। जहाँ एक तरफ निराला जी विवेकानन्द जी की कविता–'नाचुक ताहाते श्यामा' का अनुवाद करके अपने हृदयगत भावों को प्रकट करते हैं वहीं दूसरी तरफ कवि सुमित्रानंदन पंत जी ने अपनी भावना अज्ञात की लालसा के रूप में व्यक्त करते हैं। पंत जी की अनेक कविताओं में प्रकृति प्रेम और आदर्शवादिता सम्बद्ध रूप में स्पष्ट है। वीड़ा कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

''कुमुद कला बन कल हासिनी
अमृत प्रकाशिनी, नभ निवासिनी
तेरी आभा को पाकर माँ
जग का तिमिर त्रास हर दूँ
नीरव रजनी में निर्भय।''[6]

यहां पर कवि ने प्रकृति से चांदनी को प्राप्त करके जगत में तिमिर त्रास को दूर करने की आकांक्षा व्यक्त की है। पंत जी ने समाजवाद की तरफ एवं गांधीवाद की तरफ समान रूप से रूचि दिखाई है। लोक व्यवस्था के लिए उन्हें समाजवाद की बातें पसंद है और व्यक्तिगत साधना के लिये गांधीवाद की बातें। जहां कहीं भी वह लोक व्यवस्था से जुड़ते हैं वहां–वहां वह लोक कर्म में प्रवृत्ति नहीं तो कम से कम कर्मक्षेत्र में उतरे हुए लोगों के समूह में चलते हैं। उन समूहों में चलते हुए श्रमजीवियों को–'लोक क्रान्ति का अग्रदूत और नव्य सभ्यता उन्नायक बताते हैं। समाजवाद की बातें कविनें ग्रहण किया है पर अपना

चिन्तन स्वतंत्र रखा है। 'समाजवाद' एवं संघवाद (कम्युनिज्म)के साथ लगा हुआ सकीर्ण भौतिकवाद उसे इष्ट नहीं।''[7]

जयशंकर प्रसाद जी अपनी कविताओं में अन्तर्मुखी कल्पना द्वारा आत्म विस्तार का प्रयास किये हैं। आँसू का आरम्भ कवि की विरह–वेदना अभिव्यक्ति से हुआ है–

इस वरूणा कलित हृदय में
अव विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती।

इसके अन्त में एक छन्द दिया गया है–

''सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
वरसो प्रभात हिमकन–सा
आँसू इस विश्व–सदन में।''[8]

यहाँ पर कवि अपने व्यक्तिगत वेदना की अभिव्यक्ति को प्रसारित करते हुए विश्व कल्याण की भावना से जोड़ देते हैं। आँसू प्रसाद जी का एक स्मृति काव्य है, जिसमें कवि ने वेदना भरी अतीत की स्मृतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यही कारण है कि इनके इस काव्य में मात्र इनकी अनुभूतियाँ सीमित नहीं रह गयी अपितु अपने व्यक्तिगत निराशा एवं दुःख से ऊपर उठकर वेदना को करूणा के रूप में, विश्व प्रेम के रूप में प्रसारित करते हैं।

''आँसू में प्रसाद की अनुभूति व्यक्तिगत निराशा के गर्त से निकलकर विश्व–वेदना के साथ तादात्म्य स्थापित करती हुई मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए आकुल हो उठती है।''[9]

प्रगल्लभता और विचित्रता के भीतर प्रेम वेदना के दिव्य विभूति का, विश्व में उसके मंगलमय प्रभाव का सुख–दुःख दोनो का अपनाने की अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मंगल का भी आभास पाया गया। इस प्रकार इन सबका समावेश आँसू से लेकर कामायनी तक हुआ है।

कमायनी प्रसाद जी की अन्तिम रचना है जिसमें प्रसाद जी ने एक विशाल भावना को स्थापित किया है। कामायनी में प्रसाद जी ने जीवन के अनेक पक्षों को समन्वित किया है और मानव जीवन के लिए एक व्यापक आदर्श–व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया है। प्रसाद जी ने मनु, श्रद्धा, इड़ा जैसे पात्रों के चरित्रांकन में मनुष्य की अनुभूतियों, कामनाओं और आकांक्षाओं का वर्णन किया है। यह कामायनी में चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। कामायनी में प्रसाद जी ने बुद्धिवाद के विरोध में हृदय तत्व की प्रतिष्ठा करते हैं।

आनन्दवाद को प्रतिष्ठित करते हुए 'काम को मंगल से मंडित श्रेय' स्वीकार करते हुए श्रद्धा की प्रेरणा से मनु को कामना के बन्धनों से ऊपर उठकर सामरस्य के आनन्द की प्राप्ति में तत्पर दिखाया है।

सारस्वत प्रदेश का वर्णन करते हुए 'यान्त्राश्रित सभ्यता' के वर्णन में अपनी समकालीन सामाजिक व्यवस्था की विषमता का चित्रण भी किया है। मानवता को ऊपर उठाते हुए श्रद्धा के माध्यम से कहलवाते हैं–

शक्ति के जो विद्युत कण, फैले है हो विकल निरूपाय
समन्वय उनका करे समस्त, विजायिनी मानवता हो जाय ।

अनेक विद्वानो का कहना है कि लोक मंगल की भावना को मुखरित करते हुए भी कामायनी की चेतना व्यक्तिवदी है जो अपने युग के समस्याओं का यथार्थ के धरातल पर समाधान करने में असमर्थ रही है।

''यदि मधुचर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शासद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती है।''[10]

वास्तव में देखा जाय तो समसज और व्यक्ति के स्तर पर जीवन की विकास की असीम सम्भावनाएं हैं। इन सीमाओं के बावजूद भी कामायनी में लोककल्याणकारी के रूप में मुखरित होता हुआ देख जा सकता है।

महादेवी वर्मा के आत्मप्रसार की सीमा समाज कल्याण की भावना से सम्पृक्त है। जब वे अपने जीवन की तुलना– नीर भरी दुःख की बदली या दीपशिखा से करती है तो वहां आध्यात्मिक साधना के साथ–साथ लोककल्याण की भावना भी विद्यमान रहती है। जिस प्रकार घटा स्वयं को गलाकर सम्पूर्ण सृष्टि को सुख और शीतलता प्रदान करती है और दीपक स्वयं जलकर राख हो जाता है परन्तु चारो तरफ आलोक पहुचाता है। उसी प्रकार महादेवी वर्मा स्वयं साधना के आग में जलकर सामाजिक जीवन को अधिक सुखद और मंगलमय बनाना चाहती हैं।

दीप शिखा उनका प्रिय बिम्ब है जिसकी एक आध्यात्मिक उपयोगिता है यह आराधना का एक अनिवार्य उपकरण है और यही दीपक संसार के लिए प्रकाश फैलाता है जिसमें पथिक अपना मार्ग खोजता है।''[11]

महादेवी वर्मा जी ने जिस दुःखवाद अपनाया वह निराशा नहीं अपितु कल्याणकारी प्रसार है इनकी वेदना की तुलना प्रसाद जी के आँसू से की जा सकती है। आँसू काव्य के अन्त में जो करूणा की अनुभूति की जाती है वही अनुभूति महादेवी जी के वेदना में भी विद्यमान है।

महादेवी जी दुःख के भाव को संकुचित रूप में ग्रहण नहीं करती है, इन्होने यामा की भूमिका में स्वीकार किया है–

''दुःख मेंरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांधने की क्षमता रखता है, हमारे अंस रूप सुख हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुंचा सके किन्तु हमारा एक बूँद आँसू जीवन को अधिक मधुर, उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता''।

महादेवी जी की वेदना प्रियता उनके समस्त काव्य में विद्यमान है। वे वेदना से शुरू करके वेदना में ही परिणति खोजती है। वे नहीं चाहती कि उनकी पीड़ा का साम्राज्य लुट जाय। चिर विरह भावना के कारण महादेवी जी की कविताओं में उनके हृदय की करूणा मूर्तित हो उठी है। करूणा से ओत प्रोत होने के कारण इनकी वेदना भी परिस्कृत एवं संस्कारित होकर अभिव्यक्ति हुई है ।

अपने इस प्रकार की अनुभूति को प्रसारित करती हुई वे कहती हैं–

''व्यक्तिगत सुख विश्व वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है, तो व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व''

महादेवी जी की अनुभूति केवल व्यक्तिपरक आध्यात्मिकता की अनुभूति नहीं है, उसमें लोककल्याण की भावना भी है जो अडिग आस्था और आत्म बलिदान के रूप में व्याप्त है।

महादेवी ने मध्यकालीन रहस्य भावना की परम्परा को स्वीकार करके उसे लोककल्याण के साथ संयुक्त करके अपने युग–बोध के अनुरूप ढालने की कोशिश की है।''[12]

इनका वेदना भाव निश्छल निष्कपट और पुनीत है विरह की यही सात्विकता इनकी कविताओं में विस्तारित होकर विश्व वेदना बन गई है।

अन्ततः स्पष्ट होता है कि छायावादी काव्य निराशावादी काव्य नहीं है वह मानव समाज के लिए कल्याण की कामना से अलंकृत है, इसलिए छायावादी कवियों की व्यक्तिगत निराशा ही करूणा और विश्व प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। जहां पहुंचकर सारे कवियों ने सारे संसार की वेदना को खुद स्वीकार करके विश्व जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं और यही वह सीमा है जहां इनकी आत्माभिव्यक्ति, आत्म प्रसार का रूप धरण कर लेती है।

संन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1–छायावादः नामवर सिंह पृश्ठ–24
2–वही पृश्ठ संख्या –25
3– वही पृश्ठ संख्या–31
4–हिन्दी सा0 का इतिहास, नागेन्द्र पृ0549
5–छायावादः नामवर सिंह पृ031
6–हि0सा0का0इ0 रामचन्द्र पृ0 551
7–हि0सा0का0इ0 रामचन्द्र षुक्ल पृ0 472
8–हि0सा0का0इ0 नगेन्द्र पृश्ठ–545
9–वही पृश्ठ सं0–546
10–हि0सा0का0इ0 रामचन्द्र षुक्ल पृश्ठ–460
11– हि0सा0का0इ0 नागेन्द्र पृश्ठ–554
12–वही पृश्ठ–554

प्राचीन भारत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तीर्थ यात्रा की पात्रता

डॉ0 ज्योत्सना पाण्डेय

असिस्टेंट प्रोफेसर ब्राइट कैरियर,
गर्ल्स डिग्री कॉलेज,
लखनऊ

तीर्थयात्रा करने योग्य मनुष्यों के बारे में महाभारत के अरणयम पर्व में[1] कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो तीर्थों में स्नान कर लेता है पुनः जन्म नहीं लेता। वन पर्व में यह भी कहा गया है कि जो स्त्री या पुरुष एक बार भी पवित्र पुष्कर में स्नान कर लेता है वह जन्म से किये पापों से मुक्त हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्षत्रियों को भी तीर्थयात्रा करने का अधिकार था।

मत्स्य पुराण[2] में वर्णन मिलता है कि देवताओं और ऋषियों के यज्ञ का विधान अवश्य किया है लेकिन वे मनुष्य जो दरिद्र हैं और यज्ञ करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि यज्ञ में अनेक उपकरण और सामग्री लगती है। इसे राजा और समृद्ध व्यक्ति ही कर सकता है।

मत्स्य पुराण[3] में कहा गया है कि कई प्रकार के वर्णी और विवर्णी के अतिरिक्त चाण्डालों और विभिन्न प्रकार के रोगों और बढ़े हुए पापों से ग्रसित व्यक्तियों और बढ़े हुए पापों से ग्रसित व्यक्तियों के लिए वाराणसी सबसे बड़ी श्रेष्ठ नगरी है।

कूर्म पुराण[4], वामन पुराण[5], कल्पतरु[6], तीर्थ चिन्तामणि[7], तीर्थ प्रकाश[8] इन सभी ग्रन्थों में आश्रमों के बारे में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के लोग तीर्थ में स्नान करके कुल के सात पीढ़ियों की रक्षा करते हैं। चारों वर्णों के लोग और स्त्रियां भक्तिपूर्वक स्नान करके परमोच्च व्यय का दर्शन करती है।

ब्रह्म पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से तीर्थ यात्रा कर सकते हैं और गृहस्थ का अपनी पतिव्रता पत्नी के साथ तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए। नहीं तो उसे तीर्थ यात्रा का फल नहीं प्राप्त होता है।

कूर्म पुराण[10] का उद्धरण देकर वाराणसी की महत्ता तीर्थ चिन्तामणि और तीर्थ प्रकाश ने इस तरह से दी है।

महाभारत और पुराणों में कहा गया है कि पवित्र मन ही वास्तविक तीर्थ है और दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि घर पर रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करते जाना तथा वैदिक

यज्ञादि का सम्पादक करते रहना तीर्थयात्रा से कहीं अच्छा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चारों वर्णों, चारों आश्रमों के लोग तथा स्त्री, शूद्र, चाण्डाल आदि भी तीर्थ यात्रा की पात्रता रखते हैं।

तीर्थयात्रा में जाने के पहले मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्ब में विराग उदासीनता उत्पन्न करे। ब्रह्पुराण[10] में कहा गया है कि तीर्थ यात्रा के इच्छुक व्यक्ति को एक दिन पहले से ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, उपवास करना चाहिए, दूसरे दिन उसे गणेश, देवों पितरों की पूजा करनी चाहिए और अपनी सामर्थ्य के अनुसार अच्छे ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए तथा लौटने पर भी वैसा ही करना चाहिए। ब्रह्मपुराण के समान ही तीर्थों के बारे में तीर्थ कल्पतरू[12], तीर्थ चिन्तामणि[13] और तीर्थ प्रकाश[14] में उल्लेख मिलता है।

व्यक्ति को किसी एक निश्चित दिन केवल एक बार भोजन करना चाहिए। दूसरे दिन उस व्यक्ति को वपन कराकर उपवास करना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन उसे दैनिक धर्मों का पालन करना चाहिए। व्यक्ति को इस बात का संकल्प लेना चाहिए कि इन स्थानों की मै तीर्थयात्रा करुंगा और तीर्थ यात्रा की निर्वहन समाप्ति के लिए गणेश और अपने अधिष्ठाता देवों की पूजा करुंगा। इसके बाद 5 या सोलह उपचारों के साथ गणेश नवग्रहों और अपने प्रिय देवों की पूजा करनी चाहिए।

निबन्धों में कहा गया है कि लौटने पर उपवास और गणेश पूजा नहीं की जाती। व्यक्ति को श्राद्ध करनी चाहिए। जिसमें पर्याप्त मात्रा में घी का उपयोग होना चाहिए। इसके साथ ही चन्दन धूप आदि में कम से कम तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए और उन्हें भी तीर्थयात्रा के लिए प्रेरित करना चाहिए।

वायु पुराण[15] में कहा गया है कि गणेश, ग्रहों और नक्षत्रों की पूजा के बाद व्यक्ति को कार्पटी का वेश धारण करना चाहिए, इसका तात्पर्य यह है कि उसे ताम्र की अंगूठी तथा कंगन और काष्याय रंग के परिधान धारण करने चाहिए। पद्म पुराण[16] में विभिन्न तीर्थों में जाने वाले यात्रियों के लिए भी विशिष्ट परिधानों की बात कहीं है।

तीर्थ चिन्तामणि[17] में लिखा है कि ऐसी वेशभूषा तीर्थयात्रा के समय और तीर्थों में ही धारण करना चाहिए न कि दैनिक कार्यों के समय जैसे भोजन आदि करते समय में। तीर्थ यात्रा में जाने के पूर्व मुण्डन कराने के बारे में विद्वानों की एक राय नहीं है। कुछ पुराण जैसे पारस्कर गृहसूत्र[18] में वर्णन मिलता है कि समावर्तन के समय भी मुण्डन कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त खादिरगृह सूत्र[19], शाखायन गृहसूत्र[20] में भी मुण्डन के बारे में यही कहा गया है। पद्यपुराण[21] और स्कन्द पुराण[22] में मुण्डन को अनिवार्य माना है। तीर्थकल्पतरु में सिर मुण्डन के बारे में

नहीं कहा गया है और उपवास को वैकल्पिक माना है। पाश्चात्य कालीन निबन्धों में आमतौर पर धार्मिक कृत्यों को बहुत विस्तार से और कठिन बना डाला है। जैसे चातुर्मास्य और अग्निव्योम जैसे वैदिक यंत्रों के लिए यजमान को दाढ़ी बना लेनी चाहिए।

तीर्थयात्रा करने से पहले किये जाने कर्मों के बारे में ब्रह्मपुराण[23] के श्लोक कहे गये है जो कि निबन्धों में वर्णित हैं। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि तीर्थयात्रा के इच्छुक व्यक्ति को एक दिन पहले से ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना चाहिए, दूसरे दिन उसे गणेश, देवों, पितरों की पूजा करनी चाहिए और अपनी इच्छा के अनुसार सुपात्र ब्राह्मणा का सम्मान करना चाहिए तथा लौटने पर भी वैसा ही करना चाहिए। ब्रह्मपुराण के समान तीर्थ कल्पतरु, तीर्थ चिन्तामणि में भी कहा गया है।

ब्रह्मवर्वत पुराण[24] में कहा गया है कि तीर्थयात्रा करने का विचार कर लेने के बाद व्यक्ति को किसी एक निश्चित दिन केवल एक बार भोजन करना चाहिए। दूसरे दिन उस व्यक्ति को वपन कराकर उपवास करना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन उसे दैनिक धर्मों का पालन करना चाहिए। व्यक्ति को इस बात का संकल्प लेना चाहिए कि इन स्थानों की मै तीर्थयात्रा करुंगा और तीर्थ यात्रा की निर्वहन समाप्ति के लिए गणेश और अपने अधिष्ठाता देवों की पूजा करुंगा। इसके बाद 5 या सोलह उपचारों के साथ गणेश नवग्रहों और अपने प्रिय देवों की पूजा करनी चाहिए।

ग्रृह्यसूत्र के अनुसार पर्याप्त मात्रा में घी के साथ पार्वण श्राद्ध करना चाहिए और कम से कम तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए तथा उन्हें दान की दान देना चाहिए। इसके बाद उसे यात्री की वेशभूषा धारण करना चाहिए। इसके उपरान्त गांव की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। गांव की न कर सके तो कम से कम अपने घर की अवश्य करनी चाहिए। इसके बाद दूसरे गांव जाकरके जो कि एक कोस, दो या ढाई मील से अधिक न हो पहुंचना चाहिए और उसके बाद श्राद्ध से बचे हुए भोजन और घी से व्रत तोड़ना चाहिए। ये नियम केवल गया कि यात्रा में ही होता है और तीर्थों की यात्रा में वह अपने घर में उपवास तोड़ सकता है। इसके बाद उसे प्रस्थान करना चाहिए। दूसरे दिन उसे नये वस्त्र के सहित स्नान करके यात्री परिधान पहनना चाहिए और पूर्वाभिमुख होकर अपरान्ह में, यदि संभव हो तो नंगे पैर प्रस्थान करना चाहिए। इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत है कि जिस दिन व्यक्ति किसी तीर्थ में पहुंचता है उस दिन उसे उपवास करना चाहिए, दूसरे मत के अनुसार तीर्थ में पहुंचने के एक दिन पहले से ही उपवास करना चाहिए। पहला मत कहता है कि उसे उपवास के दिन श्राद्ध करना चाहिए और इस तरह से वह भोजन नहीं कर सकता, केवल पके भोजन को सूंघ सकता है।

कल्पतरु[25] और तीर्थ चिन्तामणि[26] में देवल को उद्धृत कर कहा गया है कि तीर्थ में पहुंचने पर उपवास जरूरी नहीं लेकिन यदि किया जाय तो विशेष फल की प्राप्ति होती है। तीर्थ में विहित कर्मः– अन्य धार्मिक कृत्य यज्ञ, अनुष्ठान भोज इत्यादि सुसम्पन्न वर्ग के एकाधिकार में आते थे। वे ही इनका सम्पादन करते थे तथा इनके लाभ का उपभोग भी वही करते थे। अन्य वर्ग इन लाभों से वंचित रहते थे, अछूते रहते थे। परन्तु तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है, कोई भी व्यक्ति तीर्थयात्रा कर सकता था। तथा उसका पुण्यलाभ अर्जित कर सकता था। तीर्थों का द्वार सबके लिए खुला था इसके लिए किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। तीर्थ यात्रा का भी उद्देश्य यज्ञ यज्ञादि की तरह आत्मशुद्धि, पाप–विनाश, मोक्ष प्राप्ति तथा पुण्य लाभ होता है। महाभारत में कहा गया है कि तीर्थ यात्रा के समय द्विज और शूद्र, स्त्री और पुरुष का भेद मिट जाता है। छुआ–छूत का भाव तीर्थ यात्रा के काल में स्थगित रहता है।

महाभारत में कहा गया है कि भक्ति कर्मो के साथ–साथ भक्तिभाव की तारतम्यता रहनी चाहिए। अन्यथा अन्य भाव फलदायी नहीं होते। जिस प्रकार पवित्र नदियों में मछलियां नित्य निवास करती रहती हैं और कपोत आदि प्राणी मन्दिर में ही निवास करते हैं किन्तु उनको इसके कारण मोक्ष नहीं प्राप्त होता। अनैच्छिक संयोग, धार्मिक फलदायक व पुण्य लाभ प्रदायक नहीं होता, भक्तिभाव से प्रेरित कर्म ही ऐच्छिक फलदायक होते हैं। स्कन्द पुराण[27] में कहा गया है कि व्यक्ति अपनी कामना के अनुरूप ही मंत्र, तीर्थ, द्विज, देवता, देवज्ञ और गुरु से लाभ प्राप्त कर सकता है। विभिन्न तीर्थ स्थलों में जाने, निवास करने और सदाचार पालन के नियम भिन्न–भिन्न हैं। जैसे कि गया तीर्थ के सम्बन्ध में वायु पुराण[28] में कहा गया है कि गया में जाने पर तभी फल मिलता है, जबकि चित्त अचंचल रहता है। इन्द्रियां वश में रहती हैं, मन एवं शरीर पवित्र रहता है तथा संस्कार आदि दूर रहते हैं।

वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि तीर्थों में धैर्य और श्रद्धा के साथ इन्द्रियों को वश में रखने से शुद्धि मिलती है।[29] उन लोगों के विषय में जो कि पापी, संशयात्मा, परलोक में रखने वाले ईश्वर की स्थिति के संदेह करने वाले तार्किक, इन पांच प्रकार के लोगों को तीर्थों का फल नहीं मिलता। वायुपुराण[30] के अनुसार – जिन लोगों के हृदय में पाप समाविष्ट रहता है उन लोगों को पवित्र शालग्राम तीर्थ के दर्शन नहीं होते।

प्रयाग महात्म्य में वर्णन को मत्स्य पुराण[31] का कहना है कि जो तत्वज्ञानी मनुष्य गंगा–यमुना के संगम में सत्यनिष्ठ होकर, अहिंसाव्रती होकर, क्रोध को विजित कर तथा गाय और ब्राह्मण के हित में आचरण करते हुए स्नान करना है, उसके पाप क्षीण हो जाते हैं।

मत्स्यपुराण[32] में प्रयाग के बारे में वर्णन मिलता है कि प्रयाग तीर्थ के उस पावन स्थल पर अधर्मी मनुष्य नहीं जा सकते जहां वटवृक्ष की रक्षा स्वयं शूलपाणि महेश्वर करते हैं।

मत्स्यपुराण[33] कहता है कि – प्रयाग तीर्थों में सर्वोच्च है। यहां रहने वाले संसार सागर के पार भी देख सकते हैं। सचमुच में मोक्षद्वार है जिसके दोनों भागों में बहने वाली गंगा और यमुना नदियां उसकी शोभा को बढ़ाती हैं। अतः प्रयाग की तीर्थयात्रा में लोभ, मोह को दूर करने को कहा गया है।

मत्स्यपुराण[34] प्रयाग को देव–दुर्लभ तीर्थ–प्रवर कहा गया है। इसका महात्म्य असीम व अनिर्वचनीय है जिसे कोटि–कोटि वर्णों में नहीं कहा जा सकता। जिन मनुष्यों में श्रद्धा का अभाव है तथा जिनका चित्त पापासक्त है, वे देवताओं द्वारा रक्षित प्रयाग को नहीं प्राप्त कर सकते। मत्स्यपुराण[35] के अनुसार स्नानार्थी को प्रयाग तीर्थ में मन, वचन और कर्म से धर्म पालन का आदेश दिया गया है।[36]

मत्स्यपुराण में प्रयाग के उपतीर्थों के बारे में वर्णन किया गया है कि इन स्थानों में ब्रह्मचर्य–व्रत द्वारा क्रोधादि को वश में करना चाहिए।

मत्स्यपुराण में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए संध्यावार के समीप इन्द्रियों को संयत रखने का विधान मिलता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

01– महाभारत, आरण्यक पर्व 42/30–31

02– मत्स्य पुराण 112/12–15

ऋषिभः क्रतवः प्रोक्ता देवश्याधि यथाक्रमय।
नहि शम्यादरिद्रेणयज्ञाः प्राप्तु महीपते।
बहुपकरणा यज्ञा नाना संभारविस्तराः।
प्राप्स्यते पार्थिवैरेतैः समृद्वैवी नरैः क्वचित्।
यो दरिद्रेरपि विधिः शग्यः प्राव्तुं नरेश्वर।
ऋषीणां परमं गुट्टामियं भरत सन्तम।
तीर्थानुगमनं पुण्यं यज्ञैश्योडिप विशिल्यते।

03– मत्स्य पुराण 184/66–67

04– कूर्म पुराण 1/31/42–43

05– वामन पुराण 36/78–79

06– तीर्थ कल्पतरु पृष्ठ 26

07– तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 140

08– तीर्थ प्रकाश पृष्ठ 140

09– पद्मपुराण भूमिखण्ड अध्याय 59/60

भार्या बिनां हि यो धर्मः स एव विफलो भवेत
900 से 1500 ई0

10– कूर्म पुराण 1/31/32–34
ब्राह्णाः क्षत्रिया वैश्याः भूद्वा ये वर्ण संक्राः।
स्त्रियो क्लेच्छाश्य ये चान्ये संकीर्णाः पाप यो नमः।।
कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणः।
कालेन निधनं प्राप्ता अविमुक्ते वरानवे।।
..... शिवेममपुरे देवि जायन्ते तत्र मानवाः।
नाविमुक्ते मृतः कचिन्नश्कं यति किल्विन्त्री।।

11– ब्रह्म पुराण
'सुसंयत पूर्व दिने कृतैकभक्तादिनियम इतिकेचित्,
ब्रह्मचर्यादि युक्त इति तु युक्तम।
ये श्लोक नारदीय पुराण उत्तर, 62/24–25 में भी है।
स्कन्द पुराण काशीखण्ड, 6/56–57, पद्मपुराण उत्तर, 237/36–38, ब्रह्मपुराण 76/18–19।
यो यः कश्चितीर्थयात्रां तु गच्छेत्सु संयतः स च पूर्वगृहे स्वे।
कृतोपवासः शुचिरप्रमन्तः सरपूजयेद भक्ति नमो गणेशम्।
देवानपितृनब्राह्मणांश्चेव साधुन् धीमान् पितृन ब्राह्मणान् पूज्येयच्य प्रत्यागतश्चापि पुनस्तयेत्र देवान् पितृन् ब्राह्णान पूजयेच्य।।

12– तीर्थ कल्पतरू पृष्ठ 9

13– तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 6
सुसंयत इति पूर्व दिने कृतैक–भक्तादिनियमः

14– तीर्थ प्रकाश पृष्ठ–23

15– वायु पुराण 110/2–3–350–550 ई0
उद्यतश्चेन्द्र गया गन्तुं श्राद्धं कृत्वा विधानतः।
विधाय कपिरी वेशं कृत्वा ग्रामं प्रदक्षिणम्।
ततो ग्रामान्तरं गन्वा श्राद्धशेषस्य भोजनम्।।

16– पद्मपुराण 4/19/22–900–1500ई0।

17– तीर्थ चिन्तामणि पृष्ठ 7/तीर्थ प्रमश पृष्ठ 29

18– पारस्कर गृहसूत्र 2/06/17

19– खादिर गृहडसूत्र 3/1/2/23

20– शांखायन गृहसूत्र 3/1/1–2
खादिरगृहसूत्र–प्राश्य वापयेत् शिखवर्ण केशश्मश्रुलोमनखादि।

21– पद्मपुराण उत्तरखण्ड 237/45

22– स्कन्द पुराण काशीखण्ड 6/65
तीर्थपवासः कर्तव्यः शिरसो मुण्डनं तथा।
शिरोवातानि पापानिः यान्तिः मुण्डनतो यतः।।

23– ब्रह्मपुराण–सुसंयत पूर्वदिने कृतैकशक्तादिनियम इति केचित।
ब्रह्मचर्यामुक्त इति तु युक्तम

24– ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खण्ड, 26/90–92 में 16,12 या 5 उपचारों का वर्णन इस प्रकार किया है
आसनं वसनं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
पुष्पं चन्दन धूपं च दीपं नेवेद्यमुत्तमम्।।
गन्धं माल्यं च गम्यां च ललितां सुविलक्षणाम्।
जलमग्नं च ताम्बूलं साधारं देवमेव च।।
गन्धान्तल्य ताम्बूलं बिना द्रव्याणि।
पाद्यार्घ्य जल नैवेद्यपुष्पाण्येतानि पंच च।।

25– कल्पतरु तीर्थ, पृष्ठ 11

26– तीर्थचिन्तामणि पृष्ठ 14

27– स्कन्द पुराण–700–900 ई0
मन्त्रे तीर्थि द्विये देवे दैवेज्ञे भेवजे गुरौ।
या दृश्ति भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशति।।

28– वायु पुराण, 110,4–5
अहंकार विभुक्तो यः स तीर्थफल मश्नुतै।
यस्य हस्तौ च पाढ़ौ च मनश्चापि सुसंतम्।

29– वायु पुराण, 110, 4–5
वायु पुराण 77/125 तीर्थान्युनसरन् धीरः श्रद्धानोजितेन्द्रिय
ब्रह्माण्ड पुराण, 3/13/13

30– वायु पुराण, 77/89–दृष्टया न दृश्यते तत्र प्रत्यक्षमकृतात्मनाम्।
ब्राह्माण्ड पुराण 3/13/89–दुष्कृतं दृश्यते तत्र प्रत्यक्षमकृतात्मनाम्।

31– मत्स्य पुराण, 104/16
सत्यवादीजितक्रोधो अहिंसायां व्यवस्थितः।
धर्मानुसारी तत्वज्ञो गोब्राह्मणहिते इतः।

32– मत्स्य पुराण, 104/16 अधर्मेणातृतो लोको नैव गच्छति तत्पदम्।

33– मत्स्य पुराण, 106/7 ऐश्वर्य लोभमोद्वाद्वा गच्छेद्यानेन योनरः।

34– मत्स्य पुराण, 108/11 अश्रद्वानाः पुरुत्वां पापोपदृतचेतसः।

35– मत्स्य पुराण, 105/13 कर्मणा मनसा वाचा धर्म सत्य प्रतिष्ठितः।

36– मत्स्य पुराण, 106/31 ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं यदितिष्ठिति।

37– मत्स्य पुराण, 107/43 अथ संध्यावरे रम्ये ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय।।

Emerging Trend Of Market And Product

Dr. G.C. Dwivedi
Associate professor
Department of commerce, ADC
University of Allahabad

At the start of each year, these is always a lot of contemplation in prediction for the year ahead and the latest marketing trends. “What’s hot? and “what’s next?” are always the most common questions when giving webenais and talks. As we move more forward in 2016, and look back to the year ahead, the interest increases. Since it’s that time again lets look at what are the latest trends in marketing again which look set to continue for rest of the year.

The common themes across almost all new marketing initiatives have to do with delivering excellent customer experiences. Here are 5 marketing trends that all impact the customer experience.

(i). Advanced Retargeting: Most online shoppers are now familiar with retargeting. They are used to seeing ads for previous searches throughout their journey online. However, the more these ads are previewed, the less effective they become because the surprise factor is now gone and they are easily ignored. To combat this, the newer retargeting plans are more sophisticated behavior – driven retargeting. The new tool that are now available allow to display ads, mobile ads, social ads, and a diverse amount of segmentation so that we can help our target audience along with their customer journey.

(ii). Delivering a Connected and Personalized Customer Experience: Personalized marketing messages are increasingly important as consumer expectations rise with the increases in technology. Consumers tend to forget if the retailer does not stay connected for a duration. This new marketing trend takes if a step further and uses cognitive technology. According to Marca Hinors, CBO, IBM Commerce and social, “It is possible to create unbreakable Bonds with customers, understanding them in the moment and responding immediately with relevant, personal engagement.’

This is achieved by:

- Understanding what individuals really want, maybe even before they know it.
- Indentifying the perfect moment.
- Layering in nuances of tore, sentiment, emotional, state, environmental conditions and personal relationships for deeper human engagement.
- Bringing more certainty to the Business by extraction of real-time information to enhance forecasting and decision-making across the value chair, all enabled by cognitive processes and systems.
- Being able to act on all of these capabilities and in real time.

As we move more forward in 2016, and look back to the year ahead, the interest increases. Since it's that time again lets look at what are the latest trends in marketing again which look set to continue for rest of the year. The common themes across almost all new marketing initiatives have to do with delivering excellent customer experiences. Here are 5 marketing trends that all impact the customer experience.

(iii). Social Media and Automation Combine to improve the customer experience: Social media campaigns (both paid and organic) will have to adapt and grew with the technological advances that are now available to the marketers. Most companies already know the effective social media marketing must include paid and organic social media marketing efforts. Advancements in paid social marketing campaigns. This help you not only stay top of mind with customers, but lets the customers know that we haven't forgotten about them and case about them socially. Organic social marketing efforts must make your channels an inviting place and interesting enough to entice them to interact, engage and come back regularly.

(iv). Loyalty Programs Continue to Expand: Loyalty programs are often what set one company apart from others. Loyalty programs cards or applications help remind consumer about the brand. Digital marketing advances emperor communications as well as offer specialized and personalized offers based on individual's loyalty club status, history and trends.

(V). The Internet nowadays Connects Business to Customers: The Internet of things will continue to grow as technology does and as consumer adoption increases. Companies using the Internet of things will start to see increases in customer's engagement and data collection. The connected devices of Internet will mean that companies can (and should) contact customers at the sight time depending on

where they are in store on your website. Internet and technology will add more push option for customer's consumers who will be able to automatically reorders goods or add them to shopping lists.

EMERGING Trends in Marketing in India: In India, market continues to remain upwardly mobile albeit at a slower pace agree the global financial crisis hot the Indian market in 2008. A large number of Indian exporting companies had a rider cancellation and demand slowed down in India for all product and services.

Nonetheless, and one looks at the Indian market, through the prism of time, one cannot but conclude the Indian consumer today is economically far better off than his earlier generations. The coming years will bring bull-of high-returns marketing opportunities. By closely watching trends, a marketer can make smart choices that can allow hire step ahead of his slower-morning competitions.

In these terms marketers nationwide are setting their plans for future by adopting new ways of marketing. Thus an enteauprenaur can use some of those tactics to reach its customers in the coming years.

Corporate rivalry has grown manifold for eg Telecom Industry earlier had monopoly that increased to multiple product options and competitive pricing. This is also true for all other sectors like airlines, search engines, television channels, Automobiles and FMCY etc.

Retail market is one of the few mass advertising media that can convey the same overall strategic message in differing language, to varying audience in the same village, city or region. Today's point of purchase (P-O-P) displays are easily assembled, maintained and at the same time, more powerful in entertaining and informing in the retail environment. The examples are Big Bazaar, Reliance Fresh, Subhiksha, Spencer's, Wal-Mart, Vishal Mega Market and Home Town etc.

To stay in market for long – term product innovation is also necessary. Consistently, the marketer has been pushed to innovate on process or both. Likewise innovations were visible in other sectors like financial services and consumer durables. Such as most of the banks are also offering online bill payment, insurance policies, demit accounts and pension plans to its Foundation Program – Economics and Statics. The institute of Company secretaries of India.

Customer other than banking.

Market Forms – Meaning and characteristics:

When are talk of the market of a good, it should not be taken to mean a place where the buyers and sellers meet each other and conduct sale / purchase transaction. In earlier days, the term market place and market could be used

interchange ably because buyers and sellers of a good could contact each other only in a specified place. With the passage of time, however, the necessity of a specified meeting place has become increasingly irrelevant. And now we are left only with aspect of an arrangement under which potential buyers and sellers can contact each other.

The term market may refer to that of a single good (service) or a group of them. We may, for, example, talk of the market for milk and milk product one of these items. Analytically, it is more difficult to discuss the determination of output and pricing of a group of terms than that of a single one. Therefore, we generally conifer this analysis to only a single item.

It follows that it is possible to have a variety of market arrangements. Each market is a set of specific arrangements within which the demand and supply forces operate. The nature of the market, there for depends upon several things including the following:

i. Number of buyers and sellers and competition between then.
ii. Time Factor.

Perfect Competition:

In the context of competitive market, it's helpful to note the basic feature of this form of market:

a) **Homogeneous Product:** There are no distinctive features of the product associated with any specific firm. The product, in that sense, is homogeneous and undifferentiated.
b) **Large number of sellers:** Perfect competition is therefore characterized by a large number of firms. Therefore, it must be remembered that the maximum quantity, which this firm can supply is insignificantly small when viewed in relation to the aggregate supply of the industry as a whole.
c) **Large number of buyers:** Perfect competition is also characterized by a large number of buyers who are in competition with each other for the available supply.
d) **Full Knowledge of Market:** It is assumed that in perfect competition the buyer and seller have full knowledge of prevailing price of the product, as also the prices being asked by the sellers and being offered by the buyers.
e) **Economic Rationality:** It means that every buyer and seller is motivated by his own economic interest in the decision of buying and selling.

f) **No Transport Cost:** It is assumed that there is no transaction cost to be incurred by buyers and sellers in their activities. The price offered by buyers is exactly equal to the price received by the seller.

g) **Free Entry and Exit:** Basically the term entry and exit apply to the supplies, though their coverage can by extend to buyers also. It means that, given enough time, an existing firm can close down and leave the industry or any new firm can enter the industry.

Cognitive Technology: 80 percentages of data today is unstructured and largely invisible to computers. What does this mean for marketers and their brands? At time when turning data into insight has never been more important, brands are only benefitting from 20 percent of what's out there.

As we begin looking to 2016, it's clear that marketers need to embrace new approaches that allow them to access the data customers are creating each day, to understand and learn from it and in the end use it to drive loyalty and build advocacy. With the access to an endless universe of information and possibilities, leaders can now understand what individuals want (sometimes even before they know if), deliver the right time and do this billion of times per day.

Marketing management– Sam hingbotton institute of agriculture technology and sciences. To win in 2016, brands must embrace cognitive commerce capabilities as well as new strategies and tactics that allow them to see patterns and make unlikely connections – connections beyond human imaginations – and create serendipitous moments for customers: These are those time where out of nowhere, the perfect deal, a helpful piece of content or a timely reminder is presented at exactly the right moment for the customer.

This is the power of cognitive commerce. It can fuel a company's transition from delivering customers serving its customers. It recognizers emotions – the new brand value that must by earned through trust over time.

In 2016 and beyond, cognitive technologies will increasingly help companies understand customers and prospects on completely new levels by learning about their behaviors, personalities and emotions, pinpointing what tone will resonate best in brand message, and optimizing offers and content for each customer journey based on the progressive discovery of intent. Through this deep level of understanding, marketers can then design and engineer perfect moment that not only establish deeper level of customer engagement but make this engagement so memorable that it spawns a new level of intimacy with each person.

With cognitive computing, consumer and business buyers will receive experiences on levels they never have before will businesses build a base of loyal customers who are power brand advocates.

Marketing Strategies:

Marketing strategy refers to plan that describe how objectives will be attained within a specified timeframe. This also finds out the resource allocation, positioning of brand, incitation of market segment, and marketing mix, Marketing strategy comprises product, price, place, promotion and various other components to attain the marketing objectives of the organization within a specific timeframe. It provides a defined route to a business to attain the set goods.

An organization adopts a process to develop a marketing strategy as illustrated below:

i) Creating a team.
ii) Reviewing the current situation.
iii) Setting the Marketing Objectives.
iv) Planning the action.
v) Implementing the strategy.
vi) Reviewing the strategy.

Product Management:

Stages of product Life Cycle:

A product development goes through a series of steps, which are introduction, growth, maturity and decline. This series of steps in also known as Product Life Cycle (PLC). The PLC affects the marketing approach and marketing mix in an organization. These four steps of PLC are classified based on the revenue earned by the product. This approach can be used to brand or classify a product. The time duration of each stage may range from few days to many years.

PLC includes certain marketing mix strategies that can be explained the four P's of marketing.

- **Product:** Comprises goods and services provided to the customers by the manufactured.
- **Price:** Refer to the amount given by a customer to a seller to buy a product.
- **Place:** Includes a decision related to the place of the product when it's available.
- **Promotion:** Includes the usage of communication tools in order to enhance the knowledge of customers related to the product.

The strategies of the 4Ps applied in the introduction stage of a product cycle analysis of the organization are:

a) **Product strategy:** Comprises branding of products and fixing the standard for its quality.
b) **Growth:** Signifies a stage when the organization focuses on developing brand preference and enhancing the market share.
c) **Maturity:** Includes a stage where there is a decrease in the growth rate.
d) **Decline:** Refers to a stage where an organization's sales reduce.

Introduction to web based marketing:

Web based marketing makes use of a website or online tool in order to market a good or service. This is a dynamic marketing method that enhances the number of potential customer by adding them with several benefits, for e.g. quick service of lint's to access the associated websites. Nowadays, a lot of customers are fond of shopping, playing and studying online through several websites.

Emerging trends by 2020 of India:

The market is expanding in a catalytic manner with advent of new opportunities and resources. It can be thus said about the visions of pioneers that we are approaching to a neo-classical route to growth of the social and economic condition of the world. There will be internet dominated world by emerging countries and states to receive will be higher by a notch. Thus with arrival of fifth generation computers even higher digitalization can be expected by few upcoming years.

One of the reasons that US emerged from great Depression was the formation of the work progress Administration from 1935 to 1943. Apart from other project it's estimated that NDA government also began pushing for the reasons to overcome the recession during 1998-2004.

India 2020: API Abdul Kalam

Another often overlooked fact is the profession attestation of the Government of India. After 1991 almost all private sector has become professionalized.

In order that India marches towards the cherished goal of a developed nation there is an urgent need to change the present methods of working and the mindset which has developed because of centralized power. Many existing governmental structures would need to be drastically changed. Empowerment of implementing team would lead to speed in action and enhance capability to take risks. Wherever there is a government presence, it's made of operation should be made a facilitating one and the public accountability systems should be changed accordingly.

In conclusion, we believe the five mega missions when integrated and implemented with a national focus, will result action which will shop the second vision of nation.

REFERENCE

1. www.busninessandcommunity.com
2. www.smartinsights.com
3. www.bundless.com
4. Swati-EEMERGING trends in marketing
5. Foundation program and economics and statistics: The institute of company sectriate of India.
6. Cognitive technologies change the way business engage with customers: Deepak Adawani General Manager, IBM Commerce.
7. www.yoursolvi.com
8. India 2020: APJ Abdul Kalam

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक – समीक्षा

पुस्तक – युग दर्शन
लेखक – रामबरन त्रिपाठी
प्रकाशक – आलोक प्रकाशन
मूल्य – 105 रूपये
पृष्ठ – 80

सुधि साहित्यकार श्री रामबरन त्रिपाठी की अतीन्द्रिय कारयित्री प्रतिभा ने जिन दर्जनों ग्रन्थ रत्नों का सृजन किया है, उनमें 'युग दर्शन' संज्ञक दोहा काव्य प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूत सत्य पर आधारित एक ऐसा सुधर सम्पुट है, जिसमें युग जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार की सच्चाई एवं सभी प्रकार के आवश्यक जीवनोपदेश ऐसी कुशलता के साथ समाहित कर दिए गये हैं कि उन्हें हृदयंगम करने वाला पाठक समाज जीवन के किसी भी मोड़ पर किसी भी प्रकट–अप्रकट सकंट–समस्याओं से सुरक्षित बच निकलने में समर्थ हो सकता है । दोहा जैसे अड़तालिस मात्रा के लघु कलेवरी छंद में विराट भाव राशि को शिव की जटा में समाहित गंगा की भाँति दृढता से समेंटे हुए युग दर्शन के दोहे 'बिहारी सतसई' के दोहों से ईस अर्थ में भिन्न हैं कि वे सतसई के दोहों की तुलना में अधिक सरल अभिव्यक्ति में जो विकराल यथार्थ और उस यथार्थ में जो जीवन संकेत साहित्यिक सौन्दर्य के साथ विद्यमान हैं, उसकी रस माधुरी मानस पटल पर स्वतः अंकित हो जाती है । विविध वर्णच्छवि के दोहों से युक्त 'युग–दर्शन' दोहा काव्य कविवर श्री रामबरन त्रिपाठी की कवित्व शक्ति का परिचायक है ।

'युग दर्शन' दोहा काव्य में कुल आठ सौ दोहों का सकंलन है। इनमें से कुछ दोहे श्रवण–श्रुत तो कुछ आँखिन देखी सत्य से सम्बन्धित है।कुछ अनुभूत सत्य पर आधारित है तो कुछ ध्यानस्थ परिलब्धि पर। इनमें मानवीय घुटन, एकाकी जीवन की पीड़ा, स्वतंत्रता की सीमा, अतृप्त प्रेम, अपराध वृध्दि, भ्रष्टाचार–सम्पोषण, व्यभिचार–वृत्ति, नकली कुलीनता, सामाजिक विषमता, आरक्षण–दुर्व्यवस्था, प्रतिभा हनन, असुरक्षित जीवन, प्रशासनिक उत्पीड़न, घुसखोरी, कामचोरी, भटकती राजनीति, छद्माचरण, मूल्यहीनता, भारतीयता का अभिमान, सांस्कृतिक प्रतिष्ठा, सदाचरण शिक्षा, पारिवारिक कलह, भटकते संचार माध्यम, अमर्यादित संग्रह वृत्ति, धार्मिक आस्था, मैत्री धर्म, मातृ माहात्म्य, अवतार आवश्यकता, विरोधाभाषी शासनादेश, अशिक्षा, बेरोजगारी, दरिद्रता, मंहगाई, प्रदर्शन प्रवृत्ति, युध्दोन्माद, सत्य सुरक्षा, कुशासन, अर्थ पिशाचिता, चरित्रहीनता, निष्काम कर्म, संस्कार भ्रष्टता, एकता, परोपकारिता, राष्ट्रीयता, जैसे न जाने कितनी जीवन समस्याओं बिडम्बनाओं एवं आवश्यकताओं अपेक्षाओं

से सम्बन्धित ज्वलन्त प्रश्नों को गम्भीरता से उठाकर उनका उचित समाधान प्रस्तुत किया गया है।

'युग दर्शन' का कवि बदलते हुए जीवन मुल्यों को लेकर चिन्तित दिखाई देता है। जब वह विकृत वर्तमान की तुलना अपने स्वर्णिम अतीत से करता है तो बिशेष बेचैनी का अनुभव करता है –

वही देश है जहाँ था, होता मंत्रोच्चार। / वहीं आज चलचित्र का, होने लगा प्रचार।।301

चन्दा के नाम पर लाखों रूपये इकट्ठा करके व्यक्तिगत स्वार्थ सिध्दि करने वाले ढोंगी समाज सेवको की स्वार्थान्ध–दृष्टि एवं भोगी मनोवृत्ति पर व्यंग्य करता हुआ कवि जनता को बड़ी चतुराई से सतर्क कर देता है, यथा–

विद्यालय परिवार को, करने हेतु निहाल ।/ दर–दर चंदा मांगते, मैनेजर खुशहाल ।।223

मानव शरीर की विभिन्न अवस्थाओं को समझाने के लिये कवि ने जिन प्राकृतिक प्रतीकों का सहारा लिया है, वे बहुत सार्थक हैं–

पाटल शैशव मनुज का, यौवन केतक फूल। /लाल मिर्च वार्धक्य है, इसे न जाओ भूल।।53

कवि अपने को आडम्बरों से दूर रखने के लिए कबीर की भाँति मानव मात्र का आह्वान करता है। घर में विद्यमान देवता की उपेक्षा करके पाहन पूजने का नाटक उसे स्वीकार नही है–

मातु पिता गुरू देव हैं, इनकी कर पहचान ।
भजो प्रक गृह देवता, मत पूजो पाषान ।।18

योग्यता की उपेक्षा और अयोग्यता की पूजा को देखकर कवि का विद्रोही स्वर चुटीले व्यंग्य के रूप में बाहर निकल ही पड़ता है–

आग लगे उस देश में, जहां गुलाम मराल ।
गर्दभ का अभिषेक हो, धूक बजाए गाल ।।93
प्रजातंत्र में बढ़ गया, सब का ही अभिमान ।
चींटी सागर लाँघती, उड़े गगन में खान ।।54

पूरी काव्य यात्रा में कवि का राष्ट प्रेम, सांस्कृतिक गौरव गरिमा एवं विश्वबन्धुत्व यथा स्थान प्रमुखता से प्रकट होता रहा है, यथा–

संस्कृत भारत वर्ष की, ज्यों बरगद की छाँव ।
ताप तप्त संसार को, देती छाया ठाँव ।।
भारत वर्ष सुहावना, ज्यों धरती का स्वर्ग।
इन्द्रासन चाहे जगत, का आक्रामक वर्ग।।141 42

ऐसे स्वर्गोपम भारत की दुर्दशा और उसके साथ किए जा रहे अतिचार को देखकर कविवर श्री त्रिपाठी जी का कवि हृदय हाहाकार कर उठता है। उसका विवशता पूर्ण आक्रोश इन शब्दों में फूट पड़ा है–

कभी रहा इस देश का, सोन चिरैया नाम ।

रक्त विदेशी पी गये, नेता नोंचे चाम।।

'युग दर्शन' के दोहों में व्यक्तिव्यजंकता, लालित्यमयता, रसात्मकता, सरलता, सुबोधता, माधुर्यमयता, सहजता, सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता, भावुकता, बौध्दिकता, वैचारिकता, हृदय हारिणी चारूता, प्रेषणीयता, वेधनधर्मिता आदि विषेशताएँ सहज रूप से विद्यमान हैं। इसकी भाषा अधिकांश में अभिधा अधिष्ठित है, फिर भी यथा स्थान ललित लाक्षणिका और ध्वनि धनी व्यंजकता के भी दर्शन उनमें होते रहते है।भाषा सरल, सरस और रसात्मक है। प्राकृतिक प्रतीकों से युक्त बिम्ब बिधान के कारण भाषा में विशेष चमत्कार की सृष्टि हो सकी है। प्रवाह मयता आद्यन्त विद्यमान है।

विविद्य वर्णच्छवि के शब्द प्रयोग के कारण भाषिक–भंगिमा में चारू चाँद लग गया है। दोहों की रचना करते समय कवि ने सहजता को कहीं भी वाधित नहीं होने दिया है। विचारानुभूति के अनुरूप भाषा स्वयं निर्मित होती चली गयी है। किसी भी दोहे में किसी भी अलकांर का हठात् प्रयोग देखने को नहीं मिलता। प्रायः सभी प्रमुख और प्रचलित अलकांरो का समावेश वहाँ स्वतः हुआ है। किसी–किसी दोहे में जहाँ एकाधिक अलकांरों का प्रयोग हुआ है, वहाँ भी कृतृमता का आभास तक नहीं मिलता ।विवेच्य ग्रन्थ के दोहे छंद शास्त्र के नियमों के आधार पर लिखे गये प्रतीत होते हैं। मात्रा, यति, तुक आदि में कहीं कोई व्यवधान नहीं आने पाया है।

'युग दर्शन' एक ऐसा दोहा काव्य है, जो अपने अष्टशतकीय कलेवर में सम्पूर्ण युग जीवन को दृढता से समेटे हुए है। यदि इसमें कबीर की भाँति आडम्बर विरोध का साहस है तो रहीम की भाँति नीतिपरक आचार मयता भी है। यदि सूरदास की भाँति लोकरजंन का आभास मिलता है तो तुलसीदास की भाँति लोकमगंल का प्रभा प्रकाश भी दिखाई देता है। इसके दोहों में वह सब कुछ है, जो किसी कवि को महानता के चरम शिखर पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं। यह काव्य ग्रन्थ किसी भी युग के मानव समाज का पथ प्रदर्शक एवं आचार–सहिंता प्रमाणित होगा। कवि भावना का इतना उत्कर्षमय प्रकाशन अन्यत्र दुर्लभ है । इसलिए यह ग्रन्थ प्रत्येक परिवार के लिए संग्रहणीय है।मैं कविवर श्री रामबरन त्रिपाठी के दीर्घजीवन की मगंल कामना करता हूं ।

समीक्षक
डॉ0 विनय कुमार त्रिपाठी

सम्पादक
शोधमार्तण्ड
एवं विभागाध्यक्ष (साहित्य विभाग)
श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय
सुजानगंज, जौनपुर (उ0प्र0)